



# कविता के नये प्रतिमान की समीक्षा-दृष्टि और नामवर सिंह

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, की एम० फिल०  
उपाधि के लिये प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

प्रो० नजब सिंह  
पीएच० डी०, डी० लिट्०

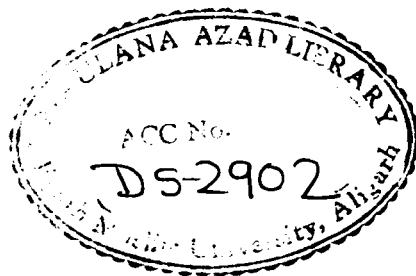
शोधक :

सुशील अहमद खाँ  
एम० ए०, बी० एड०

हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय  
अलीगढ़  
1995-96



DS2902



30 SEP 1997

PROFESSOR AJAB SINGH  
M.A. Ph.D. D.Litt.



Department of Hindi  
Aligarh Muslim University  
Aligarh.-202002

Date.. 18.5-96

**TO WHOM IT MAY CONCERN**

काविता के नये प्रतिमान की  
समीक्षा-दृष्टि और नामवर सिंह

This is to certify that the dissertation entitled "*Kavita Ke Naye Pratiman Kee Sameeksha Drishti Aur Namwar Singh*" has been written by Khursheed Ahmad Khan under my supervision. It is an original research work and is suitable for submission for the award of M.Phil. degree in Hindi of the Aligarh Muslim University, Aligarh.

निदेशक :

प्रो० आजाद सिंह

विभाग- हि०, प्रो० हि०

Chairman  
Department of Hindi  
A. M. U., ALIGARH

सोचक :

प्रो० आजाद सिंह

विभाग- हि०, प्रो० हि०

Ajab Singh  
(Professor Ajab Singh)  
Supervisor

हिन्दी विभाग  
आजाद मुस्लिम विश्वविद्यालय  
आजाद  
1995-96

## विषय-सूची

क्रम संख्या	अध्याय	पृष्ठ संख्या
१.	प्राक्कथन	
२.	डॉ० नामवर सिंह जी का व्यक्तित्व	१-३
३.	डॉ० नामवर सिंह जी का कृतित्व	४-१६
४.	कविता के नये प्रतिमान एवं डॉ० नामवर सिंह	१७-२६
५.	मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' और डॉ० नामवर सिंह	२७-३७
६.	हिन्दी आलोचना में डॉ० नामवर सिंह का योगदान	३८-६८
७.	डॉ० नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि	६९-८२
८.	उपसंहार	८३-८६
९.	अनुक्रमणिका	८७-९०

**प्राक्कथन**

## प्राक्कथन

डा० नामवर सिंह जी बहुचर्चित आधुनिक आलोचक हैं। एक ओर उनका लेखन बहुआयामी एवं प्रासंगिक है तो दूसरी ओर दिशा-निर्देशक भी। लघु शोध-प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है "कविता के नये प्रतिमान की समीक्षा-दृष्टि और नामवर सिंह"। वस्तुतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आधुनिक आलोचक डा० नामवर सिंह जी के व्यक्तित्व एवं आलोचना के क्षेत्र में उपलब्धियों का वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक ढंग से मूल्यांकन करना है।

मार्क्सवादी आलोचक डा० नामवर सिंह जी के आलोचना साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन के क्रम में प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में डा० नामवर सिंह जी के जीवन-वृत्त का विश्लेषण किया गया है। हमारा आशय यहाँ आलोचक की परिस्थितियों और संस्कारों से अंतरंग परिचय प्राप्त करना है जिसके आधार पर आगे चलकर उनके आलोचनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करना सुन्दर एवं उपयुक्त हो सके। इस अध्याय में डा० नामवर सिंह जी के व्यक्तित्व के विकास का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में डा० नामवर सिंह जी के जन्म-स्थान, पारिवारिक वातावरण इत्यादि को रेखांकन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में डा० नामवर सिंह जी का जीवन-वृत्त प्रकार उनके व्यक्तित्व का नियामक वर्णन और व्यक्तित्व का प्रतिफलन किस प्रकार उनके कृतित्व में हुआ यही इस अध्याय के मूल अध्ययन की परिधि है।

अध्याय तृतीय में कविता और उसके नये प्रतिमानों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य प्रतिज्ञाओं पर पहुँचने का प्रयत्न है। आज की कविता के महत्वपूर्ण तथ्यों का बड़ा संवेदनशील और सूक्ष्म विश्लेषण है। काव्य-भाषा और सृजनशीलता का सम्बन्ध बिम्ब-प्रधानता से सपाटबयानी तक आज की कविता की यात्रा, उसकी संरचना के प्रगीतात्मक और नाटकीय रूप, उसमें अभिव्यक्त अनुभूति की जटिलता और तनाव, तथा उस अनुभूति की प्रामाणिकता की युक्तियों में विसंगति और विडम्बना का प्रयोग, बाह्य परिवेश और कविता में अभिव्यक्त संसार का सम्बन्ध और उसमें उत्पन्न मूल्यों का प्रश्न – इन नये संदर्भों में आज की हिन्दी कविता के प्रतिमानों की खोज जितनी नई और उत्तेजक है उतनी अन्तर्दृष्टिपूर्ण और उद्घाटनकारी भी। यह सारा ही विवेचन सहानुभूति और समझ का परिचय देता है, पर 'काव्य भाषा और सृजनशीलता', 'अनुभूति की जटिलता और तनाव', तथा 'काव्य-संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय' में विशेष रूप से मूल्यांकन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय चतुर्थ में 'अँधेरे में' मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविता 'चोंद का मुँह टेढ़ा है' की अन्तिम कविता के सम्बन्ध में डा० नामवर सिंह के आलोचनात्मक कसौटी पर कसा गया है।

अध्याय पंचम में डा० नामवर सिंह जी का आधुनिक हिन्दी आलोचना जगत् में उनके योगदान को दर्शाया गया है।

इस लघु शोध-प्रबन्ध षष्ठ अध्याय में डा० नामवर सिंह की समीक्षा-दृष्टि का मूल्यांकन है और अन्त में उपसंहार के रूप में डा० नामवर सिंह जी के 'कविता के नये प्रतिग्रन्' के मूलभूत बिन्दुओं पर विचार कता हुआ उनके आलोचनात्मक महत्व का रेखांकन प्रस्तुत किया है। कुल मिलाकर यह लघु शोध-प्रबन्ध डा० नामवर सिंह के आलोचना साहित्य को एक अद्यतन ज्ञान राशि के आलोक में मूल्यांकन का प्रयास किया गया है और इसके माध्यम से उनके आलोचना साहित्य का एक संदर्भ उभरेगा और यही आज की आलोचना की प्रासंगिकता है और डॉ० नामवर सिंह के आलोचना-साहित्य को आत्मसात् किये बिना हम आज की समीक्षा या आलोचना को अच्छी तरह आत्मसात् नहीं कर पायेंगे। इसलिए मैंने अद्यतन आलोचना-साहित्य को इसके मूल्यांकन के लिए संबल लिया है।

अपना यह लघु-शोध प्रस्तुत करते समय शोध-यात्रा की अनेक अविस्मरणीय अनुभूतियाँ मेरे स्मृति-पटल पर आ रही हैं, इन अनुभूतियों में निहित रागात्मक-चेतना का परिणाम ही यह लघु शोध-प्रबन्ध है।

अध्ययन-अन्वेषण के क्रम में मुझे अपने निर्देशक गुरुवर श्रद्धेय डा० अजब सिंह जी की समीक्षा-दृष्टि का लाभ सदैव मिला है। नयी समीक्षा के व्यापक फलक पर हमें 'कविता के नये प्रतिमान' और डा० नामवर सिंह को विश्लेषित करने का मार्ग-दर्शन भी इनसे सदैव मिलता रहा है। यही कारण है कि मेरे इस अनुसंधान अध्ययन विश्लेषण में प्रखरता, नवीनता आ सकी है। इसके लिए मैं गुरुवर डा० अजब सिंह जी के प्रति श्रद्धा-नवत् हूँ।

जिन मनीषी विद्वानों के सत्-परामर्शों ने मुझे विशेष रूप से लाभान्वित किया है उनमें प्रोफेसर जाफर रज़ा ज़ैदी (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़), प्रोफेसर कुँवर पाल सिंह (अधिष्ठाता, कला संकाय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़), प्रोफेसर रवीन्द्र नाथ भ्रमर एवं हिन्दी विभाग के सभी गुरुवरों, श्री टी०आई० जोन (निदेशक), श्रीमती एस० सारस्वत (प्रधानाचार्या), श्री जोसेफ (मैनेजर, सेंट जोन्स सीनियर सेकेंडरी स्कूल, सेक्टर ७अ, फरीदाबाद (हरियाणा) के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध का कार्य करने में मुझे मौलाना आज़ाद पुस्तकालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (श्री राकिम अली, श्रीमती विजय गोयल एवं फातमा परवेज़) के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कार्य को पूर्ण करने में मुझे हिन्दी टंकक प्रदीप शर्मा, फाइन जीरोक्स सेन्टर, १, चैम्पियन मार्केट, अनूपशहर रोड़, अलीगढ़ का भी भरपूर सहयोग मिला है जिन्होंने समय से मेरे इस लघु शोध-कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस अवसर पर मित्रों एवं स्नेहियों की याद स्वभाविक है, जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं स्नेह से यह कार्य आगे बढ़ सका है। उनमें स्वर्गीय शौकत अली खॉं, विजय कुमार कौशिक, श्री ए०के० कोठारी, श्री सनातन राय (प्राध्यापक, सेंट जोन्स स्कूल, फरीदाबाद), एहतेशाम खॉं, इमरान खॉं मुख्य हैं।

इस अवसर पर अपनी जीवन-संगिनी श्रीमती शबाना खुशीद, नवजात पुत्री नूर सबा, छोटे भाई फिरोज अहमद खॉं, असद अली खॉं एवं बहन परवीन खातून को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ क्योंकि लघु शोध-प्रबन्ध के प्रणयन के प्रवास कार्य में इन्हें मैं उचित स्नेह भी न दे सका था। इस अन्तर्यात्रा की सफलता का श्रेय पूज्य पिता श्री अब्दुल खालिक खॉं एवं ममतामयी माँ नुरुन निसा को है जिन्होंने इस कार्य को करने में हमें पारिवारिक दायित्वों से अलग रखा।

अन्त में मैं अपने उन स्वजनों, प्रियजनों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी सहायता मुझे किसी न किसी रूप में मिली है।

विनीत  
Khurshed Ahmad Khan  
(खुशीद अहमद खान)



अध्याय प्रथम

डॉ० नामवर सिंह जी  
का  
व्यक्तित्व

## डा० नामवर सिंह जी का व्यक्तित्व

### जीवन-परिचय :

डा० नामवर सिंह जी का जन्म बनारस जिले के जीअनपुर ग्राम में २८ जुलाई, १९२७ को एक गहरवार राजपूत परिवार में हुआ था।<sup>१</sup> इनकी माता का नाम वागेश्वरी देवी और पिता का नाम नागर सिंह था। पिता साधारण किसान और शिक्षक थे। ये इस गाँव के पहले मिडिल पास व्यक्ति थे। इनकी माता जीअनपुर से १२ मील दूर सैय्यद राजा स्टेशन के पास फेंसुड़ा गाँव की थी। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्कूलों में हुई। श्री नामवर सिंह जी अपनी 'अ, आ, ई' की पढ़ाई बगल के गाँव आवाजापुर के स्कूल में प्रारम्भ की। इनके पिता इस स्कूल में शिक्षक थे। इनके पिता का तबादला माधवपुर स्कूल में हो गया। श्री नामवर सिंह का चौथी कक्षा में दाखिला इसी स्कूल में करा दिया गया। १९३७ में कक्षा पाँच में पढ़ने के लिए कमालपुर आ गए।

१९४० को मिडिल परीक्षा में श्री नामवर सिंह जी अनुत्तीर्ण हो गए। इतिहास की परीक्षा में जब उत्तर लिखने बैठे तो शिवाजी पर इतना लम्बा उत्तर लिखा कि दूसरे प्रश्न केवल आधा लिख पाए और बाकी प्रश्न छूट गए। फेल होना स्वाभाविक था। १९४१ में फिर से मिडिल परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

इनके पिता जी चाहते थे कि ट्रेनिंग करके श्री नामवर सिंह जी प्राइमरी स्कूल में शिक्षक बन जाएँ। लेकिन कामता प्रसाद विद्यार्थी जी के कहने पर उनका नामांकन हीवेट क्षत्रिय स्कूल, बनारस में करा दिया। जुलाई, १९४१ में वहाँ कक्षा सात में ही प्रवेश मिला क्योंकि गाँव के स्कूल में पढ़ी हुई अंग्रेजी नाकाफी थी। १९४५ में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा में पास हुए। जून, १९४७ में इण्टरमीडिएट किये। जुलाई १९४७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के बी०ए० प्रथम वर्ष में नामांकन कराया। संकटमोचन के सामने महेंद्रवी छात्रावास में जगह मिली। १९४८ में इनके 'आत्मज्ञ विजय' का जन्म हुआ जो अब इंजीनियर हैं। १९४९ में बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रथम श्रेणी में दूसरे स्थान पर रहे। इसी वर्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम०ए० हिन्दी में दाखिला लिए। गोविन्द लॉज में आ गए। १९५१ में एम०ए० (हिन्दी) किया। पहली श्रेणी में पहला स्थान मिला।<sup>२</sup>

एम०ए० करने के तुरन्त बाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में उन्हें रिसर्च फ़ैलो की वृत्ति मिली। फ़ैलो की हैसियत से क्लास भी लेने लगे। फ़ैलोशिप एक सौ रुपये मिलती थी। इस बीच डे-हॉस्टल और गुटू हॉस्टल में रहे।

१. सम्पादक सुधीश पचौरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ २५, (स्कूल जन्मतिथि, १ मई, १९२८).

२. 'पहल', अंक ३४, मार्च-मई, १९८८, पृष्ठ २३.

प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ाव पहले ही हो चुका था। १९५० में इलाहाबाद में हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन तथा १९५३, मार्च में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन तथा अगले दिन अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में भाग लिया। यह पहली दिल्ली यात्रा थी। १९५३ में ही 'सांस्कृतिक संघ' के सचिव की हैसियत से बनारस में विशाल साहित्यिक आयोजन किया। इसका उद्घाटन सुमित्रानंदन 'पंत' ने किया। काशी में 'पंत जी' का यह पहला आगमन था। १९५३ में ही जुलाई में उनकी नियुक्ति विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में हुई। विभागाध्यक्ष थे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

१९५६ में चकिया-चंदौली के लोकसभा उप-चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार बने। कांग्रेस उम्मीदवार प्रभुनारायण सिंह की जीत हुई। उपचुनाव लड़ने के कारण श्री नामवर सिंह जी को मार्च, १९५६ में विश्वविद्यालय की नौकरी से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई, १९५६ में असिस्टेंट प्रोफेसर के रूप में सागर विश्वविद्यालय में नियुक्ति हुई। विभागाध्यक्ष थे, नन्ददुलारे वाजपेयी। मई १९६० में यह पद छोड़ना पड़ा। १९६५ मार्च में 'जनयुग' साप्ताहिक के सम्पादन का कार्य शुरू किया इसके साथ ही जून, १९६५ से उन्होंने राजकमल प्रकाशन के साहित्यिक सलाहकार के रूप में भी कार्य शुरू किया। १९६७ में दोनों पदों से त्याग-पत्र दे दिया। अप्रैल, १९६७ में आलोचना के सम्पादन का कार्य किया। इसी साल इकलौती बेटी समीक्षा का जन्म हुआ।

१९६६ में 'कविता के नये प्रतिमान' बहुचर्चित आलोचना कृति पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। इसी वर्ष अक्टूबर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर बनकर जोधपुर विश्वविद्यालय गये। इसी वर्ष रूसी लेखक संघ के न्यौते पर डेढ़ महीने के लिए सोवियत संघ की यात्रा की। १९७२ में साहित्य अकादमी के जनरल कौंसिल के सदस्य चुने गये और इस पद पर १९८२ तक कार्य किये। १९७२ से १९७७ तक कार्यकारिणी के सदस्य भी थे।

१९७३ में ओरियंटल कांग्रेस के अधिवेशन में शिरकत करने पेरिस गये। इसी यात्रा में इंग्लैंड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी और इटली भी गये। माँ इसी साल चल बसी।

सितम्बर, १९७४ में जोधपुर विश्वविद्यालय के पद को छोड़ दिया। १ अक्टूबर, १९७४ से ३१ अक्टूबर, १९७४ तक क०मा०मु० हिन्दी विद्यापीठ के निदेशक होकर आगरा विश्वविद्यालय में रहे। १ नवम्बर, १९७४ को जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में संस्थापक अध्यक्ष और प्रोफेसर के रूप में नियुक्ति हुई। १९७६ में दूसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन में भाग लेने के लिए मारीशस गए। १९७८ में टालस्टाय जयंती के सिलसिले में पुनः मास्को की यात्रा की। इसी वर्ष सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार समिति के महासचिव बनाए गए। १९८० में विश्व शान्ति सम्मेलन में हिस्सा लेने बुलगारिया गये। इसी साल उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की कार्यकारिणी के

सदस्य बने। १९८२ में वियतनाम और कम्पूचिया की यात्रा की। १९८५ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण जयन्ती के सिलसिले में लंदन गए। नेपाल की यात्रा भी की। इसी वर्ष ११ फरवरी को पिता का स्वर्गवास हो गया।<sup>१</sup>

१९८६ में रवीन्द्र नाथ की १२५वीं जयन्ती पर पुनः मास्को गए। १ मई, १९८७ को जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र से सेवानिवृत्त हो गए। इसी विभाग में अगले तीन साल के लिए पुनः नियुक्ति हुई। १९९० में जे०एन०यू० से सेवानिवृत्त हो गए। राजाराम पुस्तकालय के अध्यक्ष बने, जो आज तक इसकी सेवा कर रहे हैं।<sup>१</sup>

श्री नामवर सिंह जी की साल-दर-साल जिन्दगी का यह खाका अधूरा ही है। उनकी अगली लम्बी जिन्दगी की घटनाओं को जोड़ इसे और भी महत्वपूर्ण बनाएगा।

अध्याय द्वितीय

डॉ० नामवर सिंह  
का  
कृतित्व

## डा० नामवर सिंह का कृतित्व

नामवर सिंह बहुआयामी एवं इन्द्रधनुषी प्रतिभा के धनी समालोचक हैं। डा० नामवर सिंह काल-विचार से ही नहीं, अर्थ-विचार से भी आधुनिक कवि भी हैं। उन्हें बचपन से ही कविता पढ़ने और लिखने में रुचि थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि कक्षा ६ में पहुँचते-पहुँचते इंग्लैण्ड पर हिटलर की विजय को लेकर एक कविता १९३८ में लिखी। उपनाम रखा 'पुनीत', श्री नामवर सिंह 'पुनीत' की उस पहली कविता की अन्तिम पंक्ति है :

'चढ़्यौ बरतानिया पर हिटलर 'पुनीत' ऐसे  
जैसे गढ़ लंक पर पवन सुत कूदि गौ'

छोटे से कवि 'पुनीत' जी ने यह कविता सर्किट टूर्नामेंट में सुनाई और पुरस्कृत हुए। कविता लिखने का अभ्यास तेजी से आगे बढ़ा। कक्षा सात में 'वीरगाथा' की इस संवेदना ने 'रीतिकालीन' मानसिकता का भी स्पर्श किया। कवि 'पुनीत' ने लिखा :

'आस दूइमास प्रिय मिलन अवधि की है,  
उमगें उरोज रहै कंचुकी मसकि मसकि'

यह धनाक्षरी ३३ वर्षों की है। कुछ जटिल है। रीतिकालीन जसवन्त सिंह ही ज्यादातर इसका प्रयोग करते थे। मिडिल स्कूल के हैडमास्टर पं० रामअधार मिश्र जी ने उनके पिता को डा० नामवर सिंह के कवि को जाने की सूचना दे दी। पिता चिंतित हुए। उन्होंने बाहरी पुस्तकें पढ़ने पर पाबन्दी लगा दी। कवि 'पुनीत' छिपाकर बाहरी पुस्तकें पढ़ते और कविताएँ लिखते। बनारस से ही एक पत्रिका 'क्षत्रिय-मित्र' निकलती थी। जिसके संपादक सरस्वती प्रसाद सिंह थे। इसी पत्र में १९४१ में श्री नामवर सिंह जी की पहली खड़ी बोली की कविता छपी 'दीवाली'। दूसरी कविता थी : सुमन रो मत, छेड़ गाना'।

१९४२ में कालेज मैगजीन में श्री नामवर सिंह जी का मुक्त-छंद की पहली कविता छपी : 'नभ में पतंग' - समस्यापूर्ति भी छपी। १९४७ में बनारस में निराला जी की स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी। समारोह का आयोजन आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया था। इस अवसर पर कविता पाठ के लिए श्री नामवर सिंह जी को निराला के हाथों से सौ रुपये का पुरस्कार मिला।

पहला लेख भी इसी वर्ष दैनिक 'आज' में छपा। साल भर की साहित्यिक गतिविधियों का श्री नामवर सिंह जी ने सर्वे किया था। डा० श्री नामवर सिंह जी की छोटी-छोटी कविताएँ ऐसी नहीं हैं कि एक नजर डालकर ही कोई कह दे कि इनमें जितना कुछ जानना था उसे जान लिया। कई बार पढ़ने पर इन कविताओं में गुम्फित भाव शब्दों और पदों के माध्यम से स्तर-स्तर खुलते हैं। श्री नामवर सिंह जी प्रकृति-चित्र की सीमा तक विशद और फैले हुए हैं। प्रकृति उनकी कविताओं में आलम्बन और उद्दीपन रूपों में आई है। संध्याकाल में नौका-विहार करते

हुए गंगा में शत-शत कम्पमान ज्योति-लताएँ, हरित फौव्वारों सरीखे धान, प्रभाव काल के लघु-वृत्त दीपालोक, नदी पार के पेड़ों पर उगे हुए मृगशिरा नक्षत्र, पारदर्शी नील जल में सिहराते शैवाल, स्वर-ताल में पल्लव-सरीखे पछियों का सुभग वन्दनवार, सूचीभेद्य घन के द्वार, शाम के सादे बरफट धाम, रात के भीतर उभरती रात घुसी परिचित-अपरिचित जिसके तनों की फाँक के उस पार चमकता है शशिला निःसीम कल्प खुला-खुला-सा, सवेग चलते हुए एक टहनी से फुदककर दूसरी फिर तीसरी पर उड़ रहा चंचल चिड़ी-सा चोंद, सब में नामवर सिंह दूसरे कवियों से अलग दिखाई देते हैं। वर्ण, गंध, शब्द रूप इन सभी विषयों का सह-चित्रण करने में तथा जागरूक पाठक के हृदय में उसकी सहानुभूति जगा देने की ओर वे अपनी कविताओं में विशेष ध्यान रखते हैं।

डा० श्री नामवर सिंह की वे कविताएँ, जिनमें युग्म-जीवन का आकर्षण आधार है, सामान्य पाठकों को इस कारण सबसे अधिक पसंद आती हैं कि उनकी स्वयं की अनुभूतियों उनसे अनुगुंजित होती हैं, पर इस प्रकार की कविताओं का दृश्य, संविधान और भाव-संस्थान, वैयक्तिक अधिक है। यह दृश्य प्रकृति के चुने हुए सौन्दर्य-स्थल हैं, निर्झर, नदी, वृक्ष, उपवन, संध्या अथवा ज्योत्स्ना-स्नात शर्वरी। युग्म-जीवन के पारम्परित वर्णनों के साथ-साथ कुछ नवीन जीवन की सहज उद्भावनाएँ भी हैं। जहाँ वेणी का गूँथना-छोड़ना है, वही हूँ टैं भी है। ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें कवि ने एकांकी हृदय का स्पंदन भी ध्वनित किया है। चाहे आसमान हो, चाहे नौका-विहार हो, चाहे पुरखों का डीह हो, चाहे अमलतास, चाहे किसी की अनेक या एक भावमुद्रा में अंकित एकांत स्मृति, सर्वत्र एक ही भाव धारा बहती है। श्री नामवर सिंह ने ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं, जिनमें आज के सामाजिक असंतोष और संघर्ष को व्यंजना दी गई है। ये कविताएँ किसी बँधे-बँधाए ढंग पर नहीं हैं, कहीं तो बच्चों की लड़ाई में सयानों का लड़ पड़ना है, कहीं पुत्र की वर्षगाँठ के अवसर पर कुछ दे न पाने की कचोट है, कहीं अलाव के चारों ओर बैठे ग्रामीण जनों की देशकाल-समीक्षा है। ये कविताएँ नामवर सिंह की प्रकृति और प्रेम-सम्बन्धी सफलतम कविताओं के स्तर की नहीं हैं, परन्तु उनके कवि-जीवन के विकास की सबसे अधिक संभावना इन्हीं कविताओं में लक्षित होती है।

श्री डा० नामवर सिंह ने पदावली और विषय-निर्वाह के अतिरिक्त अभी तक और कोई नवीनता नहीं दी है। सवैयों का मुख्य छन्द जैसा लिखा जाना पहले भी देखा गया है, पर जो परिणति नामवर सिंह इस छंद को प्रदान करते हैं वह अन्यत्र नहीं। धनाक्षरी छंद में भी उन्होंने इसी प्रकार सधे चरण रखे हैं। 'कोजगार' का आवलोकन करने से इसका परिचय मिलेगा। चतुष्पदियों और गीत भी उन्होंने लिखे हैं। 'उनये उनये भादरे' उनका बहुत ही सुन्दर और प्रसिद्ध गीत है। डा० नामवर सिंह ने सॉनेट भी लिखे हैं। इनके सॉनेट, भाषा औ ' विषय को निखारकर उपस्थिति करते हैं। अरुद्धचरणान्त वाक्य छंद के अनुशासन में मुक्ति की सशक्त व्यंजना किस प्रकार दिखलाते हैं, यह पढ़ने पर ही जाना जा सकता है।

डा० श्री नामवर सिंह की पुस्तक 'पकी आँखें' प्रकृति और जीवन के अछूते दृश्यों का चित्र भी दिखा सकती

हैं, यह उनका पाठक पहली ही नजर में पहचान जाएगा। "डा० नामवर सिंह की भाषा में सफाई और निखार होते हुए भी जहाँ-कहाँ छायावादी झलक है।" क्लिष्ट-कल्पना को भी उनकी कविताओं में देखा जा सकता है।"

## ॥ आठ कविताएँ/श्री नामवर सिंह ॥

एक -

पारदर्शी नील जल में सिहरते शैवाल  
चोंद था, हम थे, हिला तुमने दिया भर ताल  
क्या पता था, किन्तु, प्यासे को मिलेंगे आज  
दूर ओंठों से, दृगों में संपुटित दो नाल।

दो -

विजन गिरिपथ पर चटखती पत्तियों का लास  
हृदय में निर्जल नदी के पत्थरों का हास  
"लौट आ, घर लौट" गेही की कहीं आवाज  
भींगते से वस्त्र शायद छू गया वातास।

तीन -

धुंधवाता अलाव, चौतरफा मोढ़ा मचिया  
पड़े, गुड़गुड़ाते हुक्का कुछ खींच मिरजई  
बाबा बोले लख अकास : "अब मटर भी गई"  
देखा सिर पर नीम फोंक में से कचपचिया  
डबडबा गई सी केंपती पत्तियाँ टहनियों  
लपटों की आभा में तरु की उमरी छाया।  
पकते गुड़ की गरम गंध से सहसा आया  
मीठा झोंका। आह, हो गई कैसी दुनिया।  
"सिकमी पर दस गुना।" सुना फिर था वही गला  
सबने गुपचुप सुना, किसी ने कुछ नहीं कहा।  
चूँ चूँ बस कोल्हू की, लोहे से नहीं सहा  
गया। चिलम फिर चढ़ी, "खैर, यह पूस तो चला...."  
पूरा वाक्य न हुआ कि आया खरतर झोंका  
धधक उठा कौड़ा, पुआल में कुत्ता भौंका।

चार -

आज तुम्हारा जन्मदिवस, यूँ ही यह संध्या  
भी चली गयी, किंतु अभागा मैं न जा सका  
समुख तुम्हारे और नदी-तट भटका भटका  
कभी देखता हाथ कभी लेखनी अबन्ध्या।



पार हाट, शायद मेला, रंग रंग गुब्बारे  
उठते लघु लघु हाथ, सीटियों, शिशु सजे-धजे  
मचल रहे.....सोचूँ कि अचानक दूर छः बजे।  
पथ, इमली में भरा व्योम, आ बैठे तारे  
"सेवा-उपवन", पुष्प भिन्न गधवह आ लगा  
मस्तक कंकड़ भरा किसी ने ज्यों हिला दिया।  
हर सुन्दर को देख सोचता क्यों, मिला हिया।  
यदि उससे वंचित रह जाता तुम्हीं-सा सगा  
क्षमा मत करो वत्स, आ गया दिन ही ऐसा  
आँख खोलती कुलियों भी कहती हैं पैसा।

पाँच -

मँह-मँह बेल कचेलियों माधव मास  
सुरभि-सुरभि से सुलग रही हर सौंस  
लुनित सिवान, सँझाती, कुसुंभ उजास  
ससि-पाण्डुर क्षिति में धुलता आकास  
फैलाए कर ज्यों वह तरु निष्पात  
फैलाए बाहें ज्यों सरिता, वात  
फैल रहा यह मन जैसे अज्ञात  
फैल रहे प्रिय, दिशि-दिशि लघु-लघु हाथ।

छह -

पंथ में सौंझ  
पहाड़ियों ऊपर  
पीछे अँके झरने का पुकारना।  
सिकरों की मेहराब की छोंव में  
छुटे हुए कुछ का दुनकारना।  
एक ही धार में डूबते  
दो मनो का टकराकर  
ठीक निवारना।  
याद है : चूड़ी के टूक से चौद पे  
तैरती आँख में आँखका डारना?

सात -

कोजागार  
दीठियों की डोर-खिचा  
(ऊगते) इंदू का आकासदीप-ढोल चढ़ा-जारहा।  
गोरोचनी जोन्ह पिघली-सी  
बालुका का तट, आह, चन्द्रकान्त मणि-सा पसीज-सा रहा  
साथ हम  
नरव से बिलेखते अदेखते से

---

मौन अलगाव के प्रथम का बढ़ा आ रहा।  
अरभ-उदास लोचनों से नदी का उजास  
टूटता, अकास में, कपास-मेघ जा रहा।  
नीर हटता-सा  
विलन्न तीर फटता-सा गिरा  
किन्तु मूढ़ हियरा, तुझे क्या हुआ जा रहा

**आठ -**

उनये उनये भादरे  
बरखा की जल चादरे  
फूल दीप से जले  
कि झुरती पुरवैया की याद रे  
मन कूयें के कोहरे-सा रवि डूबे के बादरे।  
भादरे।  
उठे बगुले घास में  
चढ़ता रंग बतास में  
हरी हो रही धूप  
नशे-सी चढ़ती झुक अकास में।  
तिरती हैं परछाइयों सीने के भीगे चास में।  
घास में।

### **बकलम खुद :**

१९५१ में 'साहित्य सहकर' नाम संस्था ने श्री नामवर सिंह का निबन्ध-संग्रह छापा - "बकलम खुद"। यह पहली पुस्तक थी। इसमें १७ निबंध थे। योजना यह थी कि पिछले कुछ वर्षों में लिखे गये उनके पचास निबन्ध तीन खण्डों में छापे जायें। "बकलम खुद" इस योजना के पहले खण्ड की तरह ही था। लेकिन संस्था के बंद हो जाने के कारण प्रकाशन खटाई में पड़ गया।

### **नीम के फूल :**

१९५० में श्री नामवर सिंह की कविताओं का संकलन 'नीम के फूल' शीर्षक से 'भारतीय सहकर प्रकाशन' काशी में छपने के लिए प्रेस में था। उस समय तक कविताओं के नाम पर "नई कविता" में उनके कुछ सवैये छपे थे। लेकिन संस्था के बंद होजाने के कारण उसने बाहर की हवा-रोशनी नहीं देखी।

### **हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान :**

१९५२ में डा० श्री नामवर सिंह की दूसरी पुस्तक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान' साहित्य भवन, प्रयाग से छपी। यह पुस्तक एक प्रकार का लघु शोध प्रबन्ध है जिसे श्री नामवर सिंह जी ने एम०ए० के दौरान अपने

---

पाठ्यक्रम के तहत लिखा था।

यह शोध-परक पुस्तक है किन्तु उसमें अपभ्रंश-साहित्य का जो विवेचन है विशेषतः स्वयंभू और सरहपा का वह अन्यत्र नहीं मिलेगा। स्वयंभू या सरहपा पर कोई पुस्तक श्री नामवर जी लिखते, लिखे तो बेजोड़ होगी। स्वयंभू रचित 'पंऊ-चरिऊ' की सीता के चरित्र का जो विश्लेषण उन्होंने किया वह आज भी प्रामाणिक है। हिन्दी में अपभ्रंश-साहित्य के शोधकर्ता और विद्वान ही हुए हैं, आलोचक नहीं। डा० नामवर सिंह अकेले आलोचक हैं जो यह काम कर सकते हैं लेकिन अपभ्रंश की कुण्डली ही ठीक नहीं है। राहुल जी ने भी लिखा था – "बेचारी अपभ्रंश मारी गयी।"

## छायावाद -

१९५४ में सरस्वती प्रेस से 'छायावाद' नामक पुस्तक छपी। 'छायावाद' मौलिक विचार-दृष्टि स्पष्ट विवेचना और सृजनात्मक शैली के नाते अपने विषय की सर्वाधिक उल्लेखनीय आलोचना-कृति है। बाग्ह अध्यायो में संयोजित इस कृति में स्वयं लेखक के अनुसार 'छायावाद' की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छाया-चित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन किया गया है।

छायावाद में आलोचना का कोई खल-पुरुष नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र के मतों की अपर्याप्तता बनाई गई है। लेकिन उनकी व्याख्या भी की गई है, ऐसी कि उनका आशय प्रकट हो जाए। छायावाद विभिन्न प्रवृत्तियों का समुच्चय है। कल्पना और जिज्ञासा अन्योन्याश्रित है। विभिन्न प्रवृत्तियों परस्पर सम्बद्ध हैं। इन सबका ऐसा स्पष्ट कथन छायावाद के किसी आलोचक ने नहीं किया था।

'छायावाद' में डा० नामवर सिंह जी ने छायावाद की सामान्य प्रवृत्तियों तो दिखलाई ही हैं, छायावाद के प्रमुख चारों कवियों – जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन 'पंत' और महादेवी वर्मा की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने कविता में निहित 'सामाजिक सत्य' को उद्घाटित करते हुए स्थापित किया कि – 'छायावाद हिन्दी साहित्य की परम्पराकी एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसका जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियों उत्पन्न हो जाने के कारण उनका पर्यावसान भी हो गया। पर अब यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक स्थापित सत्य है।'<sup>१</sup>

वह मानते हैं कि छायावाद की सभी प्रवृत्तियों 'किसी एक ही मनोवृत्ति' से आई हैं। इस मनोवृत्ति का सामाजिक आधार है। इसको उन्होंने 'भाव प्रबलता से प्रेरित स्वच्छंद कल्पना' कहा है। इसके उपरान्त डा० नामवर सिंह इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचे कि "छायावाद व्यक्तिवाद की कविता है, जिसका आरम्भ व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करने और करवाने से हुआ, किन्तु, पर्यावसान संसार और व्यक्ति की स्थायी शत्रुता में हुआ।

छायावादी भावुकता, कल्पना, सार्वभौम का आकर्षण, मुक्त-छंद, भाषा, शब्द-चयन आदि सभी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध उन्होंने इस व्यक्तिवाद से जोड़कर दिखाना जो साहित्य के साथ-साथ 'राष्ट्रीय जागरण' का भी केन्द्र रहा है। अन्ततः 'छायावाद' उस राष्ट्रीय जागरणकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।<sup>१</sup>

इस पुस्तक में उन्होंने 'छायावादियों में निहित सामाजिक सत्य' का उद्घाटन तो किया ही इन चारों कवियों का काव्यात्मक विश्लेषण करके उनका स्थान भी निर्धारित किया। इस कर्म में उन्होंने प्रसाद के 'अबुद्धिवाद' (श्रद्धावाद) की आलोचना की और निराला-काव्य में निहित 'संघर्ष-चेतना' को प्रतिष्ठित किया। यह निराला ही है जो तमाम रूढ़ियों को चुनौती देते हुए अपनी सद्यः परिणीता कन्या के रूप का खुलकर वर्णन करते हैं और यह कहना नहीं भूलते कि 'पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची, है किसी कवि में साहस और संयम'।<sup>२</sup>

डा० नामवर सिंह जी ने रहस्यवाद की सामाजिक व्याख्या की है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लौकिक व्याख्या की तरह ही महत्वपूर्ण है। डा० नामवर सिंह जी ने सामाजिक विकास-क्रम में छायावाद को ठीक-ठीक देखकर उसके साकारात्मक और नाकारात्मक, प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों पक्षों को पहचाना। इसी को उन्होंने छायावाद को न मात्र द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया माना, न परवर्ती काव्य-विकास को छायावाद की प्रगतिशील विरासत से वंचित करने के प्रयास को अनदेखा किया। उनका यह कथन 'छायावाद द्विवेदी-युग का ऐतिहासिक विकास है और इस प्रकार छायावाद हिन्दी-साहित्य की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।'<sup>३</sup>

छायावाद निश्चय ही अत्यन्त तीक्ष्म दृष्टि वाले मार्क्सवादी आलोचना की कृति है जिसमें हमें छायावादी कविता का गम्भीर और शुष्क विश्लेषण देखने को मिलता है। डा० नामवर सिंह ने छायावादी काव्यवस्तु और काव्यरूप दोनों का सापेक्ष रूप में पूर्णतर विश्लेषण तो किया ही है, उसका सामाजिक मूल्यांकन भी किया है।

कुल मिलाकर अपने युग की श्रेष्ठ कृतियों के विश्लेषण के बावजूद इस पुस्तक के 'छायावाद युग' की सम्पूर्णता का बोध नहीं होता।

## आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

१९५४ ई० में ही यह पुस्तक किताब महल से छपी। इस पुस्तक में डा० नामवर सिंह जी का कहना है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद चार प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से इतिहास सम्मत हैं, जिन्हें 'वाद' के रूप में प्रचलन की मान्यता प्राप्त है।

- 
१. छायावाद, पृष्ठ १५.
  २. छायावाद, पृष्ठ १६.
  ३. छायावाद, पृष्ठ ४६.

डा० नामवर सिंह ने मुक्त-छंद को छायावादी 'स्वच्छंद भाव की तर्कसंगत परिणति' कहा है। इस बात से यह स्पष्ट है कि छायावाद की विभिन्न प्रवृत्तियाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की जनवादी चेतना की ही अभिव्यक्ति हैं। डा० नामवर सिंह जी के शब्दों कहें तो - "यह एक केन्द्र पर बने हुए विभिन्न वृत्तों (Co-centric Circles) का समुदाय है।" डा० नामवर सिंह जी ने स्वभावतः उन्होंने सामाजिक विकास-क्रम में छायावाद को ठीक-ठीक देखकर उसके साकारात्मक और नाकारात्मक, प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों पक्षों को पहचाना है। इसी से उन्होंने छायावाद को न मात्र द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया माना, न परवर्ती काव्य-विकास को छायावाद की प्रगतिशील विरासत से वंचित करने के प्रयास को अनदेखा किया। उन्हीं के शब्दों में - "छायावाद द्विवेदी-युग का ऐतिहासिक विकास है और इस प्रकार छायावाद हिन्दी-साहित्य की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।"<sup>१</sup>

डा० नामवर सिंह जी ने छायावादी रहस्यवाद की सामाजिक व्याख्या की है। डा० नामवर सिंह का कथन है - "यह जो अज्ञात असीम की अभिलाषा है और वह वस्तुतः ज्ञात सीमाओं के असंतोष से ही उत्पन्न हुई है और यह असंतोष तथा अभिलाषा केवल दिमागी अव्याशी नहीं है, बल्कि इसका सामाजिक आधार है। यह असंतोष और महत्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति की है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में सांस लेने के लिए व्याकुल हो रहा था।"<sup>२</sup>

छायावाद के बाद हिन्दी का विकास प्रगति और प्रयोग की दिशा में हुआ। डा० नामवर सिंह जी छायावादक बाद के साहित्य में यथार्थवाद के विकास की दृष्टि से प्रगतिवादी धारा को सर्वाधिक महत्व दिया है : "प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च-विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरम्भ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरम्भ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद अथवा अन्नयथार्थवाद से आरम्भ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।"<sup>३</sup>

उनके अनुसार, "ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर छायावाद की समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढ़ाव है।"<sup>४</sup>

## इतिहास और आलोचना :

१९५७ में 'इतिहास और आलोचना' नया साहित्य प्रकाशन में छपी। यह पुस्तक स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी साहित्य के पहले दशक में प्रगतिशील साहित्यिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए किए जाने वाले संघर्ष का ऐतिहासिक दस्तावेज

- 
१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १५.
  २. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ४६.
  ३. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ५५.
  ४. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ८६-८७.

है। यह पुस्तक शीत-युद्ध की राजनीति से प्रेरित वैचारिक चेतना की साहित्यिक मान्यताओं का तर्कपूर्ण खण्डन और एक नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्येतिहास के मूल्यांकन की रूपरेखा प्रस्तुत करती है।

जनता से कटकर जैसे जनवादी रचनाकार न तो जनवादी रह पाता है और न रचनाकार ही, वैसे ही मार्क्सवादी आलोचक जन-जीवन के यथार्थ के बोध के बिना केवल साहित्य-बोध के सहारे सार्थक आलोचक बना नहीं रह सकता। क्योंकि उसका साहित्य-विवेक उसके व्यापक जीवन-विवेक का अंग होता है। रचना की समाज सापेक्ष सत्ता की तरह आलोचना की भी समाज सापेक्ष सत्ता होती है। यही कारण है कि लोक-जीवन से जुड़ा रचनाकार और आलोचक दोनों के लिए जरूरी है। लोक-जीवन से कटी हुई आलोचन जन-जीवन की अन्तर्वस्तु की पहचान के अभाव में जनवादी रचनाओं की अन्तर्वस्तु की पहचान करने में भी और सक्षम होती है। लोक-जीवन से जुड़ना जनवादी रचनाकार की रचनाशीलता के लिए आवश्यक है क्योंकि सृजनशीलता की मूल शक्ति लोक-जीवन में ही होती है। समाज से सृजनशीलता प्राप्त करने के लिए ही रचनाकार लोक-जीवन से जुड़ता है। डा० नामवर सिंह जी ने लोक-जीवन की सृजनशील शक्ति और कलाकार से उसके सम्बन्ध के अनिवार्यता पर बल देते हुए लिखा है कि "लोक-जीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नयी दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं, और पुरानी चाहरदीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता तो लोक-शक्ति की मशाल लेकर आगे बढ़ती है.....अन्धकार को चीरती है, कोहरे को छांटती है, मार्ग को प्रशस्त करती है और दम घुटते कवियों की संज्ञा में प्राणवायु का संचार करती है। नया कवि इस प्राणदायिनी शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।"<sup>१</sup>

लेकिन लोक-जीवन की इस प्राणदायिनी शक्ति की सृजनशीलता का प्रभाव अन्ततः रचनाकार की गृहणशीलता, जागरूकता और अनुभूतिशीलता पर निर्भर है। अगर स्वयं रचनाकार में आन्तरिक क्षमता न हो तो केवल लोक-जीवन की शक्ति और कलाकार की आन्तरिक क्षमता न हो तो लोक-जीवन की सृजनशीलता से कला की रचना संभव न होगी। डा० नामवर सिंह जी ने लोक-जीवन की शक्ति और कलाकार की आन्तरिक क्षमता के सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार कंज-कोश सूर्य के कर-स्पर्श के बावजूद अपने अन्तर के आह्लाद से आप-ही-आप विकसित होता है उसी तरह आज के जागरूक कवियों में लोक-शक्ति के तादात्म्य की अनुभूति अन्ततः संस्कार बनकर उनकी कविताओं में लोक-भाषा का प्रस्फुटन प्रदान करती है।"<sup>२</sup>

काव्योचित भाषा में लोक-जीवन की सृजनशीलता में अपनी आस्था व्यक्त करने के बाद डा० नामवर सिंह

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ११०.

२. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ११०.

जी ने लोक-जीवन से जुड़ाव की कवियों की आकांक्षा और कविता में लोक-जीवन की अनुभूति के अभाव के अन्त-विरोध करते हुए लिखा है - "अनुभूति आकांक्षा से नहीं आती, आकांक्षा कार्यान्वित होने की ठोस प्रगति से आती है। जो ऐक्य जीवन में नहीं आ सकता है वह अनुभूति में नहीं आ सकता, और अनुभूति में नहीं आ सका वह अभिव्यक्ति में नहीं आ सकता। आकांक्षा की विवक्षा प्रायः वायवी होती है।"<sup>१</sup>

## वाद, विवाद और संवाद -

१९५६ में 'वाद, विवाद और संवाद' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली में छपी। इसमें उनके १९६४ से १९८८ के बीच लिखे गये निबन्ध और कुछ महत्वपूर्ण भाषण हैं। यह पुस्तक उनकी चर्चित प्रशंसित पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' की कड़ी है। इसमें आये हुए निबन्ध जब पहली बार प्रकाशन में आये थे तब उन पर पर्याप्त चर्चा हो चुकी थी इस कारण जब एक साथ पुस्तक रूप में ये निबन्ध दोबारा सामने आये तो यह निबन्ध पुस्तक हिन्दी लेखकों व पाठकों में वह उत्तेजनाजागृत नहीं कर पाई, जैसी डा० नामवर सिंह जी के लेखन से उम्मीद की जाती है। यह पुस्तक इनके चिंतन का समाहार है।

डा० नामवर सिंह जी मानते हैं कि अपने सर्वजनात्मक रूप में आलोचना 'मूलतः व्यक्तिगत प्रयास है, क्योंकि किसी आलोचक की 'सच्ची प्रतिक्रिया' जो वैयक्तिक ही हो सकती है। यदि आलोचना 'वैयक्तिक प्रयास' है तो उसका कोई सुव्यवस्थित, सुनिश्चित शास्त्र नहीं बन सकता। यदि 'शास्त्र' बन भी जाए तो वह 'साहित्य-शास्त्र' तो होगा, परन्तु 'आलोचना' नहीं होगा। अतः आलोचना की सुनिश्चित 'परिभाषिक शब्दावली' नहीं बन सकती। परिभाषिक बनते ही आलोचना की 'जीवन्तता' नष्ट हो जाती है। अतः डा० नामवर सिंह मानते हैं कि आलोचना पर 'शास्त्र' को लादना उचित नहीं है, भले ही वह शास्त्र जैसा वैज्ञानिक ही क्यों न हो। दरअसल आलोचना की वैयक्तिकता शास्त्र के घेरे को तोड़ती है। 'इसलिए एकांगी और पक्षधर कहलाये जाने का आरोप झेलते हुए भी सच्चा आलोचक अपने अनुभव की वैयक्तिकता जाग्रत करता है। वैसे 'पूर्ण' और 'निष्पक्ष' आलोचक दुर्लभ नहीं है, जो सभी विवादों के बाद 'सही' होने का दावा करते हैं, क्योंकि ये कभी 'गलत' होने का खतरा उठाते ही नहीं।"<sup>२</sup>

इस वैयक्तिकता के बावजूद आलोचना अपने प्रकृति में संवादधर्मी होती है, 'यदि आलोचना निष्क्रिय रसास्वाद नहीं, बल्कि सक्रिय मूल्यांकन है तो यह भी निश्चित है कि प्रत्येक मूल्यांकन एक वैचारिक संघर्ष है।'<sup>३</sup>

इस वैचारिक संघर्ष में शास्त्र से सहायता तो ली जा सकती है, परन्तु इस संघर्ष में कृति के पास आलोचक को अकेले ही जाना होता है। हालाँकि 'प्रत्येक पृष्ठ पर सुनिश्चित मत सुलभ हो तो जीवन-यात्रा सुगम रहती है

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १११.

२. वाद, विवाद और संवाद, पृष्ठ २२.

३. वाद, विवाद और संवाद, पृष्ठ २६.

और जीवन-संघर्ष सुरक्षित।<sup>१</sup> इसलिए आलोचना का सरल सुबोध गुटका बहुत खतरनाक है। डा० नामवर सिंह इसे परे हटाकर रचना का सीधा आमना-सामना करने की चुनौती देते हैं। इस परिभाषा के अनुसार आलोचक 'मध्यस्थ' नहीं है। न वह व्यावसायिक पत्रिकाओं में प्रायः अपने हस्ताक्षर और चित्र के साथ प्रकट होने वाला 'साहित्यिक एजेण्ट' है, न कवि और छात्र के बीच का भाष्यकार। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रतिक्रिया है और कृतिकार पाठक और आलोचक इस एक ही प्रतिक्रिया के अंग हैं, जिनमें से प्रत्येक क' किया इस प्रतिक्रिया की ही अनिवार्य कड़ी है। इस प्रकार आलोचक कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता। किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है, प्रसंगवश उससे कवि या पाठक प्रभावित भले ही हो जाये, लेकिन उस पर सांस्कृतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिए प्रथमतः ही हो जाएँ, लेकिन उस एक सांस्कृतिक प्रतिक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिए प्रथमतः वह रचनाकार के समान ही अपने लिए लिखता है। क्योंकि किसी ओर के लिए लिखता है तो अपने साथ ही दूसरों को भी छलता है। इस दृष्टि से आलोचक मूलतः उक्त सांस्कृतिक और सपनों को ही सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है। आलोचक का आत्मसंघर्ष भी रचनाकार के समान ही महत्वपूर्ण है।<sup>२</sup>

## कहानी : नयी कहानी -

१९६४ में 'कहानी : नयी कहानी' पुस्तक लोक-भारती इलाहाबाद से छपी। प्रो० नामवर सिंह जी ने इस पुस्तक में कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने का प्रयत्न किया है श्री नामवर सिंह जी कहानी के रूप को, जोकि उसका विधागत वैशिष्ट्य है, सुरक्षित रखने के पक्ष में हैं।

डा० नामवर सिंह जी ने कहा है कि "मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है।" कुछ आलोचक श्री नामवर सिंह जी की इस पुस्तक में उनकी वैचारिक स्थिति में विचलन की बात करते हैं। डा० नामवर सिंह जी श्री उदय प्रकाश जी से साक्षात्कार के समय स्पष्ट शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं, "कुछ निबन्ध उसमें निश्चय ही पहले के समान हैं, यानि सन् ५२-५३ के। उस पुस्तक के तीसरे संस्करण की भूमिका में मैं लिख चुका हूँ कि आज के कुछ मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा सराहे जाने के बावजूद उस पुस्तक के कुछ निबन्धों में वैचारिक दृष्टि से अति सरलीकरण है और यान्त्रिकता भी। इसलिए जिसे आप विचलन कह रहे हैं उसे मैं विकास कहना पसंद करूँगा।"<sup>३</sup>

१. वाद, विवाद और संवाद, पृष्ठ ७४.

२. वाद, विवाद और संवाद, पृष्ठ ३३-३४.

३. सम्पादन-संकलन-समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृष्ठ १६-२० (प्रो० नामवर सिंह के विचार)।



## कविता के नये प्रतिमान :

१९६८ में डा० नामवर सिंह की बहुचर्चित पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से छपी। १९६६ में इसी पुस्तक पर साहित्यिक अकादमी का पुरस्कार मिला। इस पुस्तक में समकालीन हिन्दी आलोचना के अन्तर्गत व्याप्त मूल्यांश वातावरण का विश्लेषण करते हुए उन काव्य-मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जो आज की स्थिति के लिए प्रासंगिक है।

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत विशेषतः 'तार सप्तक', 'कामायनी', 'उर्वशी' आदि कृतियों और उनके टकराने वाले मूल्यों की पड़ताल की गई है, और इस प्रसंग में वस्तुतः 'रस-सिद्धान्त' की प्रासंगिकानुकूलता पर भी विचार किया गया है।

दूसरे खण्ड में 'कविता के नये प्रतिमान' के नाम पर प्रस्तुत अनुभूति की प्रामाणिकता, ईमानदारी, जटिलता, द्वन्द्व-तनाव, विसंगति, विडम्बना, सृजनात्मक भाषा, बिम्बात्मकता, सपाटब्यानी-फैन्टेसी, नाटकीयता आदि आलोचनात्मक पदों की सार्थकता का परीक्षण किया गया है। इस प्रक्रिया में यथा प्रसंग दृष्ट कवियों की संक्षिप्त अर्थ-मीमांसा भी की गई है जिससे लेखक द्वारा समर्पित काव्य-मूल्यों की प्रतिति होती है।

## दूसरी परम्परा की खोज :

१९८२ में डा० नामवर सिंह जी की पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' राजकमल प्रकाशन से छपी, इस पुस्तक में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से भारतीय संस्कृति और साहित्य की लोकान्मुख कान्तिकारी परम्परा को खोजने का सृजनात्मक प्रयास है, जो कबीर के विद्रोह, सूरदास के माधुर्य और कालिदास के लालित्य में रंगारंग है। विषय के प्रस्तुति सृजनात्मक, आलोचना की एक प्रतिमान की खोज है।

इस पुस्तक में जिन अध्यायों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की फक्कड़ मस्ती का विश्लेषण किया गया है, रीतिकाल संबंधी उनकी मान्यताओं का विवेचन किया गया है, रहस्य-भावना की सामाजिक विद्रोही भूमिका को पहचाना गया है, वे श्री नामवर सिंह जी के आलोचक के सार्मथ्य का सूचक है।

## सम्पादन के क्षेत्र में डा० नामवर सिंह जी का योगदान :

डा० नामवर सिंह जी सम्पादन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किये हैं उन्होंने १९५३ में हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के साथ 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन किया। १९६५ में 'जनयुग' साप्ताहिक का सम्पादन किया। बाद में श्री नामवर सिंह जी ने १९६७ में इसके सम्पादन का काम छोड़ दिया। शीला जी ने श्री नामवर सिंह जी के 'आलोचना'

क सम्पादन का नया प्रस्ताव रखा। डा० नामवर सिंह जी राजी हो गए। डा० नामवर सिंह जी ने आलोचना का सम्पादन अप्रैल १९६७ से नये सिरे से शुरू किया। १९७२ में नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए 'आज की हिन्दी कहानी' का सम्पादन किया। १९७७ में ११वीं कक्षा के लिए 'कथा-भारती' पुस्तक का सम्पादन किया जिसे एन०सी०ई०आर०टी० ने छपा। १९७८ में 'आधुनिक रूसी कविताएँ' शीर्षक सम्पादित पुस्तक छपी, राजकमल से, अनुवादक - भरतभूषण अग्रवाल, श्रीकान्त वर्मा और राजीव सक्सेना। १९८५ में ११वीं, १२वीं कक्षा के लिए एन०सी०ई०आर०टी० के कुछ और पुस्तकों का सम्पादन किया। नाम है - 'काव्य संचयन, भाग १-२, अभिनव काव्य भारती, १-२, अभिनव गद्य भारती, १-२, गद्य संचयन, भाग १-२, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, साहित्य का स्वरूप।'।<sup>१</sup>

१९८६ में नागार्जुन की प्रतिनिधि रचनाओं का संपादन किया जो राजकमल से छपा। १९८७ में मलयज की पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्रशुक्ल' का सम्पादन किया। इसी वर्ष दिसम्बर में भारत में सोवियत महोत्सव के अवसर पर राजकमल ने चार पुस्तकों का एक सैट प्रकाशित किया जिसमें से तीन के सम्पादक हैं डा० नामवर सिंह जी। पुस्तकों के नाम हैं - धरती पर सुंदरता पीकर (रसूल हमजातोब), आएँगे दिन कविताओं के (मारीनात्सवेतायवा, अनुवरेयाम सिंह) और बाग्नोव की व्यथा और अन्य कहानियाँ (वसीली शूविशन)।<sup>२</sup>

जीअनपुर के नामवर सिंह जी की साल-दर-साल जिन्दगी का यह खाका अधूरा ही है। उनकी पहली लम्बी जिन्दगी की घटनाओं का जोड़ इसे और भी महत्वपूर्ण बनाएगा।

१. पहल, अंक ३४, मार्च-मई, १९८८, पृष्ठ ३५.

२. सम्पादक सुधीश पचीरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ ३५.

## अध्याय तृतीय

कविता के नये प्रतिमान  
एवं  
डॉ० नामवर सिंह

## कविता के नये प्रतिमान एवं डा० नामवर सिंह

पिछले बीस वर्षों में हिन्दी कविता की संवेदनशीलता और स्वर में अनेक बड़े-छोटे परिवर्तनों और उनको लेकर बेशुमार वक्तव्यबाजी के बावजूद कुल मिलाकर हमारा काव्य-चिन्तन बड़ा ही प्रारम्भिक प्रकार का, वैयक्तिक और अधकचरा रहा है। वह समकालीन अथवा पूर्ववर्ती किसी भी दौर की कविता के बारे में कोई विश्वसनीय समझ या सूझ-बूझ नहीं देता, कोई ऐसी अन्तर्दृष्टि नहीं प्रस्तुत करता जो कविता और उसमें अभिव्यक्त दुनिया को पहचानने के लिए नए रास्ते उजागर करती हो। इस पूरे दौर में कविता, विशेषकर समकालीन कविता को लेकर शायद कोई महत्वपूर्ण पुस्तक नहीं लिखी गई, थोड़ी-बहुत उल्लेखनीय काव्य-चिन्तन केवल छुटपुट कविताओं या फुटकर निबन्ध संग्रहों में ही बिखरा रहा है। इस स्थिति में डा० नामवर सिंह की नवीनतम पुस्तक 'कविताओं के नये प्रतिमान' बहुत दिनों से प्रत्याशित होने पर भी अचानक ही नये झोंके के समान लगती है। कई दृष्टियों से यह पिछले दो दशकों की हिन्दी कविता संबंधी आलोचना की पुस्तकों में सबसे अधिक विचारोत्तेजक और महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें हर दौर के बदले हुए काव्य-बोध को सुस्पष्ट और विवेक सम्मत ढंग से तथा सूक्ष्म संवेदनशीलता और सूझबूझ से परिभाषित करने की कोशिश है, काव्य-रूचि और अभिव्यक्ति के नए रूपों में सम्बन्ध की खोज का प्रयास है दूसरी ओर आलोचकों द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय तथा सर्जनात्मक, प्राचीनतावादी तथा आधुनिकतावादी, संगत तथा असंगत, कविता सम्बन्धी बिखरे हुए स्फुट विचारों, मान्यताओं, सीमाओं और मूल्यांकन के संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में, और उनकी पारस्परिक टकराहट में, से कविता को समझने की और उसकी नई कसौटियों को पाने की कोशिश की गई है। काव्य-लेखन और काव्य-चिन्तन दोनों को एक साथ देखने और उनके पारस्परिक संबंध के सहारे उनके नये और सार्थक पक्षों की पहचान का सहज ही इस पूरे विवेचन को महत्वपूर्ण बना देता है।<sup>1</sup>

'कविता के नये प्रतिमान' शीर्षक से लगता है कि उसमें किन्हीं प्रतिमानों की स्थापना है। दरअसल यह पुस्तक प्रतिमान भंजक स्वभाव लेकर तैयार हुई है। डा० नामवर सिंह जी ने हिन्दी यथार्थवादी-मार्क्सवादी-समाजवादी-यथार्थवादी कविता के विकास को गौर से देखा है और एक उत्तरदायी मार्क्सवादी आलोचक की तरफ उसमें उभरने वाले नए प्रतिमानों को चिन्हित किया है। उन्होंने 'प्रतिमान की भूमिका' में लिखा है, नए प्रतिमान उन्होंने गढ़े नहीं हैं, बल्कि नई कविता के माध्यम से जो जाने हुए थे, उन्हें केवल पहचानने का प्रयास किया है। ऐसा भी नहीं है कि ये प्रतिमान नितान्त नवीन हैं और नई कविता में पहली बार प्रकट हुए हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही ज्ञातव्य है कि ये प्रतिमान हिन्दी कविता के यथार्थवादी विकास के दौर में महत्वपूर्ण हो उठे हैं।<sup>2</sup>

1. सम्पादक सुधीश पच्चौरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ ३१६ (श्री नेमिचन्द्र जैन के विचार)।
2. कविता के नये प्रतिमान-भूमिका।

डा० नामवर सिंह ने इन अपेक्षाकृत नये प्रतिमानों की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है। नये प्रतिमानों की सार्थकता केवल इस बात में नहीं है कि वे विशेष प्रकार की कविता के मूल्यांकन में सहायक हों, बल्कि इस बात में भी है कि वे सम्पूर्ण कविता के मूल्यांकन के लिए नया आधार या नई दृष्टि प्रदान करें। डा० नामवर सिंह ने इस बिन्दु की ओर एक स्थान पर संकेत किया है, 'रचनाओं के पारस्परिक प्रभाव के बारे में प्रायः यही समझा जाता है कि पहले की लिखी रचना से ही कोई रचना प्रभावित होती है। एक रचना से दूसरी रचना का अर्थ बदल जाता है, मूल्य घट-बढ़ जाता है और वह अपने आप से कुछ हो जाती है। इनसे कौन इंकार कर सकता है कि मानस में वाल्मीक रामायण को और कामायनी ने मानस को पाठकों के लिए बदल लिया।'<sup>१</sup>

### काव्य-भाषा :

समाजवादी यथार्थवादी या नई कविता में उभरने वाले जिस नये प्रतिमान ने डा० नामवर सिंह का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट किया है वह है काव्य-भाषा। उनका कहना है - 'नई कविता के उदय के साथ जब पुनः कविता की रचना में 'वागर्थ प्रतिपत्ति' की स्थापना की गई तो स्वभावतः काव्य-समीक्षा में भी उसका प्रतिफलन दिखाई पड़ा, और पूर्ववर्ती आलोचना की त्रुटि का परिहार करते हुए काव्य-भाषा को पुनः मूल्यांकन के मूलाधार के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास शुरू हुए।'<sup>२</sup> कविता में उसकी भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि कविता का कथ्य उससे अभिन्न होता है और वही उसे जानने का एक मात्र साधन होती है : 'कथन को कथ्य से कैसे अलग किया जा सकता है? यदि कथ्य कथन से अलग है भी तो कथन के अतिरिक्त उसे जानने का साधन क्या है?'<sup>३</sup> डा० नामवर सिंह जी ने कविता की भाषा को किसी स्वतन्त्र अवयव के रूप में नहीं प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है - 'यदि भाषा कवि के अनुभव और ज्ञान का साधन है तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है। अब इस सफाई के लिए कोई गुंजाइश नहीं रही कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह कह नहीं पाया। परन्तु यह सवाल उठेगा कि उसने अनुभव किया था, इसका प्रमाण क्या है?'<sup>४</sup> अनुभव से अभिन्न भाषा में ही सृजनशीलता होती है। लेकिन यह सृजनशीलता अनायास लभ्य न होकर अन्वेषण का फल होती है - 'काव्य-भाषा के स्तर पर सृजनशीलता बहुत कुछ अन्वेषण का पर्याप्त है किसी नए शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नए अनुभव-खण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नए पहलू की खोज।'<sup>५</sup> छायावादोत्तर काल नयी प्रयोगशील कविता में बोलचाल के शब्दों से कविता की भाषा तैयार करने का जो प्रयास दिखलाई पड़ती है उसके पीछे भाषा को स्वाभाविक बनाने का आग्रह या प्रकृतवादी प्रवृत्ति ही नहीं है। डा० नामवर सिंह जी के अनुसार उसके द्वारा कवियों में अपने आस-पास की दुनिया में हिस्सा लेते

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ५३.
२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १०४.
३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १०८.
४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११२.
५. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११३.

हुए कविता रचने के नैतिक साहस का परिचय दिया। इस प्रकार उनकी कविता की भाषा उनके परिवेश के अनुभव का अंग थी। अन्त में उन्होंने अनुभव और भाषा अथवा कथन और कथ्य के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध बतलाया है और कहा है – 'यदि कथ्य-कथन अथवा भाव-भाषा में अनायास तादात्म्य की छायावादी धारणा गलत है और नयी कविता द्वारा स्थापित उसका सायास अन्वेषणधर्मी सम्बन्ध सही है तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कथ्य-कथन के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है, जिसे विरोधपूर्ण एकता की संज्ञा दी जा सकती है। जाहिर है कि इस विरोधपूर्ण एकता की भूमि पर कविता की स्थिति कहीं भी हो सकती है, किन्तु अन्ततः कविता की यह स्थिति डी मूल्यांकन का मूल आधार बनती है। कविता में भाषा के स्तर पर इस विरोधपूर्ण एकता का तनाव चरमबिन्दु की दिशा में जिस सीमा तक व्यक्त होता है, उस सीमा तक कविता मूल्यवान होती है। निस्संदेह इस मार्ग में समझौते की भी स्थितियाँ हैं, जिन्हें ध्यान में रखे बिना कोई भी मूल्यांकन पूर्ण नहीं हो सकता।' यहाँ डा० नामवर जी का यह कथन भी देख लेना चाहिए जिससे काव्य-भाषा को प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करने के उनके प्रयत्न के सम्बन्ध में किसी गलतफहमी की गुंजायश न रहे – 'कथ्य को कथन के रूप में निःशेष कर देने में निस्संदेह, आलोचना के अन्तर्गत रूपवादी रुझान का खतरा है, क्योंकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओं के विश्लेषण को भी समुचित काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं। किन्तु जो जागरूक समीक्षक शब्द के गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ-वृत्तों तक फैलते जाने का विश्वासी हैं वह सन्दर्भ के अनुसार शब्द में निहित सभी अर्थापत्तियों को पकड़कर काव्य-भाषा के आधार पर ही काव्य का पूर्ण मूल्यांकन कर सकता है, जिसमें उसका नैतिक मूल्यांकन भी निहित है।'<sup>१</sup>

## सपाटबयानी :

डा० नामवर जी ने कविता के जिस दूसरे नये प्रतिमान को रेखांकित किया है वह 'सपाटबयानी'। इसका सम्बन्ध काव्य-भाषा से ही है, पर महत्वपूर्ण होने के चलते यह अलग से उल्लेखनीय है। यह प्रतिमान हिन्दी कविता में कुछ देर से उभरा, नई कविता का भी दौर समाप्त हो जाने के बाद। '१९५६ का साल ऐतिहासिक दृष्टि से नई कविता के विकास का प्रायः चरमबिन्दु था। इस बिन्दु से एक रास्ता नई कविता की रुढ़ियों की ओर जाता था, जिनमें बिम्ब आदि विज्ञापित नुस्खों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति थी और दूसरा रास्ता सच्चे सृजन का था, जिसमें बिम्बवादी प्रवृत्ति के बंधन को तोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ।'<sup>२</sup>

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या 'सच्चा सृजन' यानि यथार्थवादी कविता की रचना बिना बिम्ब-विधान के भी सम्भव है? और यदि वह संभव है तो फिर नामवर जी के उक्त कथन और न कथनों में क्या संगति है कि 'कविता

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११६.

२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११५-११६.

३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १२५.

४. नई कविता, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृष्ठ ४२-४३.

में 'बिम्ब विधान' के आग्रह का अर्थ है वास्तविकता की प्रतिष्ठा" और "विचार-प्रधान कविताएँ केवल 'आलोचना' हैं तो बिम्बप्रधान कविताएँ रचना भी हैं?"\* इस प्रश्न का उत्तर डा० नामवर सिंह जी के उपर्युक्त कथन में ही मिल जाता है, यदि हम उनके 'बिम्ब आदि विज्ञापित नुस्खों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति" और बिम्बवादी प्रवृत्ति के बंधन" इन वाक्य-खण्डों पर ध्यान दें। इनसे यह स्पष्ट है कि वे बिम्ब अथवा बिम्ब-विधान को काव्य-मूल्य के रूप में तिरस्कृत नहीं करते हैं, बल्कि बिम्ब की रुढ़ियों के अनुकरण और बिम्बवाद की प्रवृत्ति को यथार्थवादी कविता की रचना के लिए घातक बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में डा० नामवर जी के उपर्युक्त 'बिम्ब-विरोधी' और 'बिम्ब-समर्थक' कथनों में कोई विरोध नहीं देखा जाना चाहिए। 'सपाटबयानी' से भी उनका क्या मतलब है, यह ज्ञातव्य है। इस प्रश्न को उन्होंने सर्वत्र उद्धरण-चिन्हों के भीतर रखा है इससे भी यह संकेत मिलता है कि इसका प्रयोग उन्होंने सर्वथा प्रचलित अर्थ में नहीं, बल्कि उससे भिन्न-किंचित् अर्थ में किया है। इसी कारण उन्होंने 'सपाटबयानी' के साथ प्रायः 'तथाकथित विशेषण का भी प्रयोग किया है। डा० नामवर जी की 'सपाटबयानी' 'निरा वक्तव्य' का पर्याय नहीं है। 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित 'नई कविता पर क्षण भर' शीर्षक लेखमाला की जिस किस्त (सितम्बर, १९६३) से 'प्रतिमान' में उन्होंने 'बिम्ब-विरोधी' अपना कथन उद्धृत किया है, उसी में उन्होंने यह भी कहा है - "दिक्कत तब पैदा होती है, जब वक्तव्य 'प्रेस-वक्तव्य' हो जाता है।" 'प्रतिमान' में भी उन्होंने बिम्ब ढूँढ़ने वाली अध्यापक की आलोचना की सीमाएँ बतलाते हुए कहा है - "इस वातावरण में यदि तथाकथित 'सपाटबयानी' में रचे-पचे रोजमर्रा की जिन्दगी से लिए गए जाने-माने बिम्ब अनदेखे चले जाएँ और इस प्रकार उनका विशेष कथ्य भी साधारण मानकर उपेक्षित हो जाए तो आश्चर्य नहीं।" इस उद्धरण में 'सपाटबयानी' का बिम्ब से सम्बन्ध स्पष्ट है, भले वे बिम्ब उसमें 'रचे-पचे' रोजमर्रा की जिन्दगी से लिए गए जाने-माने बिम्ब" हों। आगे भी उन्होंने कहा है, "कविता बिम्ब का पर्याय नहीं है, सामान्यतः जिसे बिम्ब कहा जाता है उसके बिना भी कविताएँ लिखी गई हैं और वे बिम्बधर्मी कविताओं से किसी भी तरह कम अच्छी नहीं कही जा सकती।"१ इस कथन में 'सामान्यतः' शब्द ज्ञातव्य है। उसका अर्थ यह है कि यथार्थवादी कविताओं में भी बिम्ब होते हैं पर वैसे बिम्ब नहीं जिन्हें हम आमतौर पर बिम्ब के रूप में जानते या पहचानते हैं। बिम्ब के सम्बन्ध में डा० नामवर सिंह जी की यह स्पष्ट धारणा है, "कविता में बिम्ब-रचना सदैव वास्तविकता को मूर्त ही नहीं करती, कभी-कभी वास्तविकता का अमूर्तन भी करती है.....। कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्रायः वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है।"२

कविता को बिम्ब का पर्याय बना देने का प्रयत्न हमें अंग्रेजी के बिम्बवादी आन्दोलन में दिखलाई पड़ता है। बिम्बवादियों ने 'काव्य में वस्तु के प्रत्यक्ष ग्रहण' पर बल दिया था, जिसका मतलब था वस्तु को मूर्त (प्रायः दृश्य)

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १३८.

२. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३६.

३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३६.

रूप में अभिव्यक्त करना। इस प्रवृत्ति को परिणति वस्तु के 'अमूर्तन' या उससे पलाचन में हुई। इसका कारण यह था कि बिम्बवादी बिम्ब को ही प्रमुखता प्रदान करते थे, उस भाव और विचार को नहीं, जो बिम्ब से संयुक्त होकर वस्तु में निहित अर्थ को उद्घाटित करता है, या उसे प्रशस्त बनाता है। डा० नामवर सिंह जी इस बिम्बवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध हैं और यथार्थवादी कविता के लिए उस प्रकार के बिम्ब-विधान को आवश्यक समझते हैं जिस प्रकार का बिम्ब-विधान नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं में दिखलाई पड़ता है। "जहाँ तक मूर्तिमत्ता का प्रश्न है, वह तथाकथित 'बिम्बवादी' काव्य-सिद्धान्त को अपनाये बिना भी सम्भव है।"<sup>१</sup> इसके उदाहरण के रूप में इन्होंने नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक प्रसिद्ध कविता उद्धरित की है और उसकी संक्षिप्त शब्दार्थ-मीमांसा करने के बाद कहा है – "क्या यह सब केवल सूक्ष्म पर्यवेक्षण और यथार्थ-चित्रण मात्र है? वास्तविकता के मर्म की यह आन्तरिक पहचान कोई नैतिक दृष्टि नहीं? एक मूर्तिमत्ता यह भी है, किन्तु तथाकथित बिम्बवादी मूर्तिमत्ता से कितनी अलग।"<sup>२</sup>

त्रिलोचन के 'ध्वनिग्राहक' शीर्षक सॉनेट की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं – "लड़ता हुआ समाज, नयी आशा-अभिलाषा/नये चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा।" इन पर डा० नामवर जी की टिप्पणी है – "जहाँ अँधेरी कोठरी को अँधेरी कहने की साहसिक सच्चाई है वहीं नये चित्र के साथ नयी भाषा देने का आत्म-विश्वास भी सम्भव है।"<sup>३</sup> इन सबों से कविता के प्रतिमान के रूप में 'सपाटबयानी' के आग्रह और 'बिम्ब' के विरोध से उनका क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बिम्ब के बड़े पक्षपाती थे, पर जब बिम्बवादी आन्दोलन में कविता को अतिरिक्त महत्व प्रदान करने का आग्रह किया गया तो उन्होंने बिम्बवादियों का विरोध करते हुए लिखा – "इन लोगों का सिद्धान्त था मूर्तरूप में ही विश्वास रखना, अतः यह छोटी-छोटी कविताएँ ही ठीक समझते थे, जिनका चित्र मन में एक बार में आ सके। बड़ी और लम्बी कविताओं के ये विरोधी थे। और सिद्धान्त के अनुसार ये मूर्त-भावना खड़ी करने वाले (Concrete) शब्द की कविता के लिए उपयुक्त समझते थे, भाववाचक (Abstract) शब्दों को दूर रखने की सलाह देते थे। इनका कहना था कि मूर्त भावना वाले शब्द कल्पना में स्पष्ट और स्थायी रूप विधान भी करते हैं और सबको समान रूप से बोधगम्य भी होते हैं। वर्णनात्मक (Descriptive) और विचारात्मक (Philosophical) कविता का ये विरोध करते थे। इनके सिद्धान्त में सत्य का बहुत कुछ आधार था, पर ये उसे बहुत दूर तक घसीट ले गये।"<sup>४</sup>

डा० नामवर सिंह जी के अनुसार भी बिम्ब-विधान के कविता के लिए आवश्यक है, पर बिम्ब को कविता की संरचना का अंग होना चाहिए, उससे स्वतंत्र नहीं, उसे "वास्तविकता के मर्म की आन्तरिक पहचान" कराने वाला

- 
१. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३०.
  २. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३१.
  ३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३५.
  ४. रसमीमांसा, पृष्ठ २६५.



होना चाहिए, अपने आप में पूर्ण नहीं, उसे कविता में स्वाभाविक रूप में आना चाहिए, सायास रूप में नहीं और उसे अधिक से अधिक प्रस्तुत होना चाहिए, अप्रस्तुत और निरा आलंकारिक नहीं। मात्र अप्रस्तुतों से निर्मित काव्य-भाषा के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी का यह कथन दृष्टव्य है – “काव्य में चित्रमयी भाषा सर्वत्र अनिवार्य नहीं, दृष्टि से गूढ़-अगूढ़ मार्मिक तथ्यों के चयन द्वारा भी किसी भावना को मर्मस्पर्शी स्वरूप प्राप्त हो जाता है.....।”<sup>१</sup>

अन्त में डा० नामवर जी ने ‘सपाटबयानी’ के आदर्श रूप में कबीर, सूर, तुलसी की काव्य-भाषा को सामने रखा है, “जिसकी प्रकृति मूलतः बिम्बधर्मतर है”<sup>२</sup>, यानि बिम्ब तो है, पर वे बिम्बवादी श्रेणी पर निर्मित नहीं है।

### काव्य-संरचना :

डा० नामवर सिंह जी ने काव्य-संरचना को कविता का नया प्रतिमान बतलाया है जिसकी ओर ध्यान दिलाने का श्रेय उनके अनुसार हिन्दी में सर्वप्रथम निराला को है। लेकिन काव्य-संरचना भी दो प्रकार की होती है : “प्रगीतात्मक और नाटकीय। छोटी कविताओं की संरचना मूलतः प्रगीतात्मक होती है और लम्बी कविताओं की संरचना नाटकीय। नाटकीय कविता अरस्तु द्वारा निरूपित ‘कार्य का अनुकरण’ (इमिटेशन ऑफ एक्शन) के सिद्धान्त पर आधारित होती है, जबकि प्रगीत कविता में सारा बल अनुचितन पर होता है। छोटी कविता के लिए किसी विषय-वस्तु का होना आवश्यक नहीं, विषय-वस्तु निहायत मामूली सी कोई चीज हो सकती है, किन्तु प्रगीत का कवि उस वस्तु का अनुकरण करने के लिए बाध्य नहीं है। प्रगीत कविता न अनुकरणात्मक है, न वर्णनात्मक और न कथात्मक। इसके मूल में अनुचितन या अनुभूति की प्रधानता है।”<sup>३</sup> यहाँ बिम्बवादियों के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का यह कथन ध्यातव्य है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है : “ये छोटी-छोटी कवितायें ही ठीक समझते थे, जिनका चित्र मन में एक बार में आ सके। बड़ी और लम्बी कविताओं के ये विरोधी थे।” जाहिर है कि बिम्बवादी कवितायें यथार्थवादी कविताओं का आदर्श नहीं हो सकती और यथार्थवादी कविताओं की संरचना बिम्बवादी कविताओं से मूलतः भिन्न होगी। लेकिन सभी लम्बी कविताओं की संरचना नाटकीय ही हो, यह आवश्यक नहीं है। लम्बी कवितायें भी अनुचितनात्मक अथवा आत्मपरक होती हैं और उनकी संरचना ‘एक सीधी रेखावली’ न होकर ‘वर्तुल’ होती है। उदाहरण के लिए, “अज्ञेय की लम्बी कविता ‘असाध्य वीणा’ अपने आकार की लम्बाई के बावजूद एक प्रगीत है निःसंदेह उसमें एक छोटी सी कथा भी है और नाटकोचित संवाद भी किन्तु भावबोध के स्तर पर पूरी कविता अनुचितनात्मक है और संरचना भी वर्तुलाकार है।”<sup>४</sup> इसके विपरीत श्रीकान्त वर्मा की ‘समाधि लेख’, रघुवीर सहाय की ‘आत्महत्या के विरुद्ध’, राजकमल की ‘मुक्ति प्रसंग’, साही की ‘अलविदा’ और मुक्तिबोध की ‘अंधरे में’ शीर्षक लम्बी कवितायें सही

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१२.

२. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १३६.

३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १५०.

४. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १५१.

अर्थों में नाटकीय संरचना वाली कवितायें हैं। आरम्भिक तीन कवितायें "अपनी काव्यानुभूति में आत्मपरकता का आभास देते हुए भी वस्तुतः संरचना में अप्रगतीतात्मक है।"<sup>१</sup> अन्तिम दोनों कविताओं के बारे में डा० नामवर सिंह जी ने लिखा है : "ये दोनों कवितायें भी नाटकीय एकालाप की हैं, किन्तु इनमें फेन्टैसी के सहारे एक ऐसी प्रभावशाली पटभूमि तैयार की गई है जो पूर्वोक्त कविताओं से इन्हें अलग कर देती है। एकालाप के बावजूद इन दोनों कविताओं में वाचक के अतिरिक्त एक और व्यक्ति है जो छाया रूप उस एकालाप का साझीदार बना रहता है। 'अलविदा' में वह अपर व्यक्ति स्पष्टतः अपने से भिन्न 'कोई दूसरा' है, जिसे यदि अभिन्न कहा जा सकता है तो लाक्षणिक भाषा में। 'अंधेरे में' का अपर व्यक्ति वाचक का प्रतिरूप या 'डबल' है जो उस नाटक में छाया के समान केवल उपस्थित ही नहीं रहता, बल्कि सक्रिय रूप से हिस्सा भी लेता है। इसके अतिरिक्त दोनों कविताओं में कथानक का हल्का सा आश्रय भी लिया गया है जिसके कारण ये अरस्तु की भाषा में सच्चे अर्थों में 'कार्य का अनुकरण' है। इस प्रकार इनमें निहित सिद्धान्त प्रगीत कविता से सर्वथा भिन्न है। इनमें 'कहानी' नहीं, बल्कि एक हल्का सा कथानक है जिसका निश्चित आदि, मध्य और अन्त है।"<sup>२</sup> इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि डा० नामवर सिंह जी ने काव्य संरचना पर स्वतंत्र रूप में विचार नहीं किया और काव्यानुभूति तथा काव्य संरचना में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है : "संरचनात्मक दोष वस्तुतः काव्यानुभूति के दोष का सूचक है। संरचना में शिथिलता आती है तो अनुभूति की सघनता टूटकर सस्ती भावुकता (सेन्टीमेन्टलिज्म) में बदल जाती है जो सर्वमान्य काव्य दोष है क्योंकि उससे कवि की नैतिक दृष्टि के स्खलन का आभास होता है इसी प्रकार यहाँ भी कविता के लम्बायमान होने का कोई तर्कसंगत कारण ढूँढने पर भी न मिले, काव्यानुभूति की दुर्बलता का अनुमान किया जा सकता है।"<sup>३</sup>

### विसंगति और विडम्बना :

कविता का चौथा नया प्रतिमान है विसंगति और विडम्बना सम्पूर्ण यथार्थवादी कविता की विशेषता नहीं है, पर उसके एक अंश विशेष की विशेषता अवश्य है। यदि कविता के प्रतिमान के रूप में इसे अभी तक स्वीकृति नहीं मिली, तो इस कारण कि इसमें छायावादी सुरुचि और 'रोमान्टिक गम्भीरता' बाधक रही है। डा० नामवर सिंह जी ने निराला की 'सरोज-स्मृति' शीर्षक कविता का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने शोक की भावभूमि में 'चमरौधे जूते' को लाकर गम्भीरता की एकरसता को तोड़ने वाला यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया था। फिर उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी कविता में यह प्रवृत्ति छायावादी मिजाज के टूटने की स्थिति में उत्पन्न हुई जिसका ऐतिहासिक दस्तावेज है निराला का 'कुकुरमुत्ता' और 'तार सप्तक' के अधिकांश कवियों ने इस कौशल का उपयोग किया है।"<sup>४</sup> विसंगति और विडम्बना वाली कवितायें जीवन के प्रति उस कीड़ा-भाव की देन है जिसे अपनाकर यथार्थवादी कवि अनेक

१. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १५२.
२. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १५६.
३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १५०.
४. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १६३.

रूपों में जीवन के यथार्थ का सामना करता है। "जीवन के प्रति यह कीड़ा-भाव कविता में अन्तर्गत भाववेश को संयत करके कविता की संरचना में ही कसावट नहीं लाता, बल्कि उसके तथ्य में भी गहराई, प्रौढ़ता और सघनता उत्पन्न करता है।"<sup>१</sup> लेकिन इस कीड़ा-भाव का मतलब 'सिनेसिज्म' अथवा सनकीपना नहीं है। डा० नामवर जी ने मुक्तिबोध की 'मेरे सहचर मित्र' शीर्षक कविता की यह पंक्तियाँ उद्धरत की हैं : 'खूँखार, सिनिक, संशयवादी/शायद मैं कहीं न हो जाऊँ/इसलिए बुद्धि के हाथ-पैरों की बेड़ी/जंजीरें खनकाकर तोड़ी' और फिर कहा है : 'स्पष्ट है कि आज की स्थिति संशयवादी, सिनिक और खूँखार बना देने वाली है किन्तु मुक्तिबोध के कथन से यह भी स्पष्ट है कि बुद्धि के हाथों इस स्थिति पर काबू भी पाया जा सकता है। पक्का 'सिनिक' हो जाने के बाद फिर कविता भी अनावश्यक हो जाती है। काव्य रचना का अर्थ ही है 'सिनेसिज्म' पर मानसिक विजय।"<sup>२</sup> यह दृष्टि रघुवंश जी जैसे आलोचक की दृष्टि से गुणात्मक रूप से भिन्न है, जिन्होंने विपिन अग्रवाल की कविताओं में मूल्यों से मुक्त रहकर किये गये विसंगति के चित्रण का समर्थन इसलिए किया है कि वर्तमान काल में मूल्य-भ्रंति की स्थिति है। डा० नामवर सिंह जी निश्चित विचार-धारा और जीवन-मूल्यों में आस्था रखने वाले आलोचक हैं। वे विसंगति और विडम्बना को यथार्थ-चित्रण के लिए आवश्यक मानते हैं, पर जीवन के प्रति 'सिनिकल एप्रोच' का पक्ष-समर्थन नहीं करते।

## अनुभूति की जटिलता और तनाव :

डा० नामवर सिंह जी ने कविता के जिस पाँचवें नये प्रतिमान का विवेचन किया है वह है अनुभूति की जटिलता और तनाव। छायावादी कविता से प्रभावित आलोचक काव्यगत अनुभूति की व्याख्या 'अत्यन्त संकुचित' रूप में करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्यगत अनुभूति कल्पना और विचार तत्वों से रहित प्रायः 'शुद्ध भाव' का पर्याय है। कभी यदि वे अनुभूति की जटिलता को स्वीकार भी करते हैं तो उसका सम्बन्ध वे चित्तवृत्तियों की संख्या से मानते हैं, 'संदर्भ और संदर्भ से उत्पन्न होने वाले भावबोध की प्रकृति' से नहीं। इन आलोचकों की तुलना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सही हैं जिन्होंने भाव को एक 'गूढ़-संश्लेष' बताते हुए कहा है कि विवेकात्मक बुद्धि व्यापार भी भावों के शासन के भीतर आ सकते हैं।<sup>३</sup> डा० नामवर जी के अनुसार अनुभूति की जटिलता "संवादी-विसंगवादी" वृत्तियों के द्वन्द्व पर आधारित है।<sup>४</sup> छायावादी आलोचक कविता में द्वन्द्व की स्थिति मानते हैं पर उसे यह कहकर विशिष्ट रूप दे देते हैं कि "प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति-तीव्र से तीव्र द्वन्द्व की कलात्मक अनुभूति भी - समंजित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है, द्वन्द्व प्रक्रिया में ही हो सकता है परिणति में नहीं, अन्यथा 'सच्चाई' और 'ईमानदारी' या 'अभिव्यक्ति की सफलता' की बात करना व्यर्थ होगा।"<sup>५</sup> छायावादी कवि

१. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १६८.
२. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १७१.
३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १८४.
४. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १८४.

में भी द्वन्द्व की यही स्थिति देखने को मिलती है यानि उसमें द्वन्द्व है, पर 'एक सीमा तक उसका सामना करने के बाद छायावादी कवि संतुलन अथवा सामजस्य के लिए चिंतित हो उठते थे।'<sup>१</sup> आगे डा० नामवर सिंह जी ने लिखा है : "सामजस्य की यह अधीरता इतनी प्रबल थी कि अदबदाकर हर कविता के अन्त में जाते-जाते वह संतुलन किसी न किसी तरह प्राप्त कर लिया जाता है।" छायावादी कवियों में द्वन्द्व को सबसे अधिक दूर तक ले जाने वाले निराला भी इस आकांक्षा से न बच सके : "'राम की शक्ति-पूजा' का अन्त प्रमाण है।"<sup>२</sup> उन्होंने छायावादी कविता और नई कविता के 'अन्तर का मुख्य आधार द्वन्द्व' को ही बतलाया है।"<sup>३</sup> और कविता में प्रक्रिया और परिणति के अलगाव को दोष मानते हुए कहा है कि 'द्वन्द्व यदि काव्य की अनुभूति में है तो जबरदस्ती समाहित में बदल देना कवि-कर्म की ईमानदारी या सच्चाई नहीं बल्कि बेईमानी है।'<sup>४</sup> डा० नामवर सिंह ने यहाँ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उस काव्य-सिद्धान्त की याद दिलाई है जिसके अनुसार काव्य दो प्रकार का होता है - आनन्द की साधनावस्था का काव्य और आनन्द की सिद्धावस्था का काव्य, और प्रथम प्रकार के काव्य की एक विशेषता होती है 'विरुद्धों का सामजस्य यानि परस्पर विरोधी भावों की एकत्र स्थिति। पुनः उन्होंने कहा है : 'नई कविता यदि आज द्वन्द्व और तनाव का काव्य के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहती है तो वह हिन्दी आलोचना की गौरवशाली परम्परा को ही आगे बढ़ा रही है।'<sup>५</sup> तनाव द्वन्द्व से ही उत्पन्न है। इस तनाव को मुक्तिबोध और अज्ञेय दोनों ने ही स्वीकार किया है, लेकिन डा० नामवर सिंह जी के अनुसार यथार्थवादी कविता में मुक्तिबोध द्वारा स्वीकृत या निरूपित तनाव ही वांछनीय है : 'निःसंदेह मुक्तिबोध के 'तनाव' और अज्ञेय के 'तनाव' की प्रकृति में अन्तर है। अज्ञेय की दृष्टि में 'मानसिक तनाव' प्रमुख है, जिसे जीवन की विविधता का बोध 'विश्रुंखल' करता है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का तनाव दोहरा है : एक ओर अपने परिवेश के साथ, दूसरी ओर स्वयं अपने अंदर। किन्तु अन्ततः ये दोनों तनाव परस्पर सम्बद्ध हैं।'<sup>६</sup>

## ईमानदारी :

कविता का छठा नया प्रतिमान है 'ईमानदारी', लेकिन यह 'ईमानदारी' 'प्रामाणिक अनुभूति' या 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का पर्याय नहीं है। 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की सीमा डा० नामवर सिंह जी ने इन शब्दों में बतलाई है : 'नई कविता के शास्त्र के साथ ही नई कविता की नवीनता पर बल देना अनिवार्य हो गया और सद्यःसुलभ 'अनुभूति की प्रामाणिकता उस नवीनता की प्रतिष्ठा का अस्त्र बनी। आग्रह में कोई गड़बड़ी न थी, सिवाय इस बात के कि प्रामाणिकता के लिए किसी वस्तुनिष्ठ प्रमाण की न तो आवश्यकता समझी गई और न उसकी ओर कोई संकेत ही किया गया।'<sup>७</sup> उन्होंने जिस 'ईमानदारी' को कविता के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया है, वह मुक्तिबोध द्वारा

- 
१. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १८६.
  २. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १८६.
  ३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १८५.
  ४. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १९१.
  ५. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १९२.
  ६. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ १९३.
  ७. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ २०१

व्याख्यायिक 'ईमानदारी' है। उन्होंने मुक्तिबोध का यह कथन उद्धृत किया है : "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आंकलन करते हुए लेखक उस आंकलन के आधार पर वस्तु-तत्त्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी प्रतिक्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव नहीं होगा।"<sup>१</sup> फिर उन्होंने कहा है : "इस प्रकार मुक्तिबोध ने ईमानदारी को आत्मनिष्ठता के बदलाव से निकालकर वास्तविकता की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित किया और ईमानदारी से सत्यता के प्रश्न को जोड़कर मूल्यांकन के लिए एक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक औजार प्रदान किया।"<sup>२</sup> आत्मनिष्ठ ईमानदारी नई कविता में भी चल रही थी। डा० नामवर सिंह जी के अनुसार, 'भावना के ज्ञानात्मक आधार की कमजोरी के कारण जिस प्रकार छायावादियों ने छद्म भावनाओं की अभिव्यक्ति की, मुक्तिबोध को इसका पता था, इस अनुभव के आधार पर उन्होंने नये कवियों को भी ईमानदारी की रोमान्टिक-छायावादी सीमाओं के प्रति आगाह किया।"<sup>३</sup> यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि जो ईमानदारी कविता का प्रतिमान बन सकती है, वह 'साहित्यिक' ईमानदारी ही है, 'सामाजिक' अर्थात् वस्तुगत ईमानदारी नहीं। यह बात और है कि इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। डा० नामवर सिंह जी के शब्दों में, 'कविता से कवि को अलग करके भी यदि काव्यकृति को ध्यान से देखा जाये तो कवि की ईमानदारी का पता चल सकता है। जागरूक पाठकों और आलोचकों का अनुभव है कि कविता में जहाँ 'कृत्रिमता' दिखाई पड़ती है, कवि में ईमानदारी की कमी का अहसास होता है।"<sup>४</sup>

- 
१. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ २०१.
  २. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ २०१-२०२.
  ३. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ २०२.
  ४. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ २०७.

अध्याय चतुर्थ

मुक्तिबोध की कविता

'अँधेरे में'

और

डॉ० नामवर सिंह

## गजानन माधो मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' और डॉ० नामवर सिंह

मुक्तिबोध की नई कविता के पूरे दौर में प्रायः उपेक्षित रहे, यहाँ तक कि नई कविता साहित्यिक प्रतिष्ठानों में जब बहुत कुछ स्वीकार भी कर ली तो मुक्तिबोध उस दायरे से बाहर रहे। इस बारे में नई कविता के अंतर्गत मुक्तिबोध की स्थिति बहुत कुछ वही है जो छायावाद में सबसे पहले विरोध पंथ का हुआ और सबसे पहले स्वीकृत हुए, फिर प्रसाद और अंत में महादेवी वर्मा। छायावाद के समाप्त होने तक निराला स्वीकृत नहीं हो पाये थे। नई कविता में सबसे पहले विरोध अज्ञेय का हुआ और स्वीकृत भी सबसे पहले वही हुए। मुक्तिबोध की ओर ध्यान गया तब तक वे मृत्यु शैया पर थे। और ध्यान भी गया तो किसका? युवा कवियों का। इनकी कविता का संसार कुल मिलाकर निषेध का निषेध है।<sup>१</sup> मुक्तिबोध के काव्य में व्यक्ति एवं व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व ही प्रमुख है। सामाजिक संघर्ष का जो चित्रण उनके काव्य में मिलता है, वह निर्वैयक्तिक नहीं है। उनके स्वयं के संघर्ष से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। अर्थात् सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के वैयक्तिक द्वन्द्व के माध्यम से हुई है। डॉ० नामवर सिंह जी की दृष्टि में "मुक्तिबोध आत्मविश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक संघर्ष को समझना चाहते हैं — उनके कविताओं का केन्द्रीय विषय है आज के व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व। सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व की जो छाया व्यक्ति के जागरूक रूप में प्रतिबिम्बित होती है, उसी के मार्मिक चित्रण का प्रयास मुक्तिबोध ने बार-बार किया है इसी तरह मुक्तिबोध आत्मविश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक संघर्ष को समझना चाहते हैं। उनकी कविताओं में इसी आत्मसंघर्ष से छिटकी हुई चिंगारियों की चित्र-शृंखला मिलती है।"<sup>२</sup>

मुक्तिबोध ने अधिकतर लम्बी कवितायें ही लिखी हैं। 'चौद का मुँह टेढ़ा है' संकलन की तो अधिकतर कवितायें लंबी ही हैं। इसके अतिरिक्त भी जो कवितायें उनकी अप्रकाशित हैं, इस संकलन में नहीं आ सकी हैं — उनमें अधिकतर लम्बी कवितायें हैं। १९६३ की एक रचना 'एक आत्मवक्तव्य' तारसप्तक के द्वितीय संस्करण (जो १९६६ में प्रकाशित) के लिए देते हुए मुक्तिबोध ने पुनश्च में लिखा है कि — "इससे और छोटी रचनायें शायद मैं अब नहीं लिख सकता।"<sup>३</sup> डॉ० नामवर सिंह इन कविताओं के संबंध में लिखते हैं कि "मुक्तिबोध भयंकर तनाव में कवितायें लिखते थे। अतः उनकी कवितायें भी सहज ही खत्म नहीं होती थी। वह ऐसा स्वयं महसूस करते थे।" नहीं होती कहीं भी कवितायें खत्म नहीं होती।" यह हम पहले भी कह चुके हैं कि मुक्तिबोध संघर्षशील कवि हैं उनका संघर्ष बाह्य और आंतरिक दोनों स्वरों पर था और जब हम अपने आप से लड़ते हुए बाहरी स्थिति से भी लड़ने की कोशिश करते हैं, एक विशेष प्रकार की लम्बी कवितायें पैदा होती हैं जो आधुनिक कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि है।"<sup>४</sup>

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १०.

२. डॉ० नामवर सिंह : गजानन माधव मुक्तिबोध, कवि (बनारस), अप्रैल १९५७, पृष्ठ ५१-५२.

३. पुनश्च — तारसप्तक, द्वितीय संस्करण — १९६६, पृष्ठ ७६.

४. डॉ० नामवर सिंह — राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध 'विशेषांक' — जनवरी-फरवरी-१९६५, पृष्ठ २८५.

‘अंधेरे में’ कविता मुक्तिबोध की अत्यंत सशक्त रचना है जो उनकी पूरी कविता का प्रतिनिधित्व करती है। मुक्तिबोध की यह कविता हिन्दी की एक विशिष्ट देन के रूप में स्वीकार भी की गई है। इस कविता की निम्नलिखित पक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

इसीलिए मैं हर गली में  
और हर सड़क पर  
झोंक-झोंककर देखता हूँ हर एक चेहरा  
प्रत्येक गतिविधि,  
प्रत्येक चरित्र,  
व हर एक आत्मा का इतिहास,  
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति  
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श  
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणत!!  
खोजता हूँ पठार....पहाड़....समुन्दर  
जहाँ मिल सके मुझे  
मेरी वह खोई हुई  
परम अभिव्यक्ति अनिवार  
आत्म-सम्भवा!

इस अस्मितता या ‘आइडेंटिटी’ की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।<sup>१</sup> डॉ० नामवरसिंह जी ने इस कविता को मुक्तिबोध की परम अभिव्यक्ति की खोज कहा है। उनका कथन है : “इस कविता का मूल कथ्य है आत्मा की खोज : किन्तु कुछ अन्य कवियों की तरह इस खोज में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता पर रहस्यवाद नहीं बल्कि गली सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव चरित्रों की आत्मा के इतिहास का वास्तविक परिवेश है। आज के व्यापक संदर्भ में जीने वाले व्यक्ति के माध्यम से मुक्ति-बोध ने ‘अंधेरे में’ कविता में अस्मिता की खोज को नाटकीय रूप दिया है।”

नाटकीय कौशल के लिए कविता का ‘मैं’ दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है : एक है काव्य-नायक ‘मैं’ और दूसरा है उसका प्रतिरूप ‘वह’। यह विभाजन नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार ‘आत्म-निर्वासन’ (सेल्फ-एलिऐनेशन) है। ‘अंधेरे में’ का काव्य-नायक एक आत्म-निर्वासित व्यक्ति है, जिसके आत्म-निवासन का प्रतीक है उसका गुहावास। दोस्तोयेव्स्की के ‘अंडर ग्राउंड मैन’ के समान ही यह व्यक्ति भी बाह्य परिस्थितियों से भय खाकर एक तिलिस्मी खोह में निवास करता है। कविता का प्रारम्भ इस तिलिस्मी खोह के रहस्यमय दृश्य से होता है, जो अपने प्रभाव में काफी नाटकीय है।

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३५-३६.



जिन्दगी के.....  
 कमरों में अँधेरे  
 लगाता है चक्कर  
 कोई एक लगातार,<sup>१</sup>

किन्तु यह रहस्यमय व्यक्ति दिखाई नहीं देता, केवल उसके चलने की आहट भर सुनाई देती है। अकस्मात् भीत से फूले हुए पलस्तर गिरते हैं और भीत पर खुद-ब-खुद कोई बड़ा चेहरा बन जाता है : नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ़ हनु! प्रश्न उठता है : कौन मनु? और इस प्रश्न के साथ ही जैसे काव्य-नायक प्रकट होता है। उसे याद आता है कि यह रहस्यमय व्यक्ति वही है जो कभी शहर के बाहर पहाड़ी के उस पार तालाब के सलिल के तम-श्याम शीशे में कुहरीली श्वेत आकृति के रूप में प्रकट हुआ था, और फिर थोड़ी देर गद लाल-लाल कोहरे में से एक रक्तालोक-स्नात पुरुष के रूप में निकला हुआ दिखा था। रात के अंधेरे में बंद दरवाजे की सांकल खटखटाने वाला पुरुष शायद वही है। आत्मनिर्वासित काव्य-नायक को पता है कि "वह रहस्यमय व्यक्ति अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है।" तथा हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव आत्मा की प्रतिमा है।<sup>२</sup> उस प्रतिरूप से काव्य-नायक डरता है, कतराता रहता है और इसलिए उसे टालता भी है कि स्वयं उसे अपनी कमजोरियों से लगाव है, उसे डर इसलिए है कि वह "हृदय को देता है बिजली के झटके" और तुंग-शिखर के खतरनाक कगार पर बिठाकर रस्सी के पुल से पर्वत-संधि के गह्वर पार करने के लिए कहता है। इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि "भविष्य का नक्शा दिया हुआ उसका/सह नहीं सकता।" फिर भी "नहीं नहीं उसको मैं छोड़ नहीं सकता।" भय और प्रीति का यह नाटकीय द्वन्द्व ही उस आत्म-निर्वासित मन का मुख्य आर्कषण है अंततः वह दरवाजा खोलने का संकल्प करता है किन्तु देखता है कि बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर।" रात का पक्षी कहता है,

वह चला गया है,  
 वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं  
 अब तेरे द्वार पर।  
 वह निकल गया है गाँव में शहर में।  
 उसकी तू खोज अब  
 उसको तू शोध कर।<sup>३</sup>

रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'गीतांजलि' के एक गीत में कुछ-कुछ इसी प्रकार की पंक्तियाँ हैं, किन्तु उस रहस्यवादी संदर्भ से इन पंक्तियों का संदर्भ कितना भिन्न है। रात के पक्षी के कथन के बावजूद आत्म-निर्वासित काव्य-नायक का वह रहस्यमय पुरुष फिर दिखाई पड़ता है, लेकिन स्वप्न में। इस बार उसके दर्शन उस समय होता है जब शहर में कर्फ्यू लगा हुआ है और मार्शल-लॉ जारी है। रात के सन्नाटे में सिरफिरा एक जन 'आत्मोद्बोध में कोई गान'

---

१. सम्पादक सुधीश पचौरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ ४०६.  
 २. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३६.  
 ३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३७.

गाता है, जिसे सुनते ही साफ हो जाता है कि "व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ/वही उसे अकस्मात् मिलता था रात में।" गान का प्रभाव यह है कि :

प्रत्यक्ष,  
मैं खड़ा हो गया  
किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के।<sup>१</sup>

काव्य-नाटक के घटना-क्रम में यह रहस्यमय पुरुष एक बार और मिलता है, अंतिम बार, जब शहर में जन-कांति छिड़ जाती है। माहौल ऐसा कि "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।" आत्म-निर्वासित व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में गैलरी में खड़ा होता है कि दिखाई पड़ता है "एकाएक वह व्यक्ति/आँखों के सामने/गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में/चला जा रहा है।.....पुकारने को खुलता है मुँह/कि अकस्मात्-/वह दिखा, वह दिखा/वह फिर खो गया किसी जन-यूथ में..../उठी हुई बाँह यह उठी हुई रह गई।"

खोज और उपलब्धि के बीच की दुविधा या 'सस्पेंस' ही 'अँधेरे में' कविता को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है; और यह केवल काव्य-शैली का चमत्कार नहीं, बल्कि कथ्य की गहरी अर्थवत्ता का सूचक है। अस्मिता की खोज संबंधी ज्यादातर कविताओं में या तो केवल एक प्रकार की हताश खोज मिलती है या फिर उपलब्धि की बलात् आत्मतुष्टि! आकस्मिक नहीं है कि दोनों ही प्रकार की कविताएँ प्रायः प्रकृत्या प्रगीतधर्मी होती हैं। प्रगीत शैली के अनुरूप ही उनके कथ्य में भी अस्मिता की खोज का अति सरलीकृत सपाट रूप मिलता है। मुक्तिबोध ने इस सपाटता से बचकर एक तीखे तनाव को सफलता के साथ व्यंजित किया है, जिसका मुख्य आधार 'अँधेरे में' कविता का कौशलपूर्ण घटना-विन्यास है। अरस्तू ने जिस अर्थ में 'मिथोस' को त्रासदी की आत्मा कहा था, उसकी पुष्टि एक तरह से 'अँधेरे में' के घटना-विन्यास से होती है। इस घटना-विन्यास का महत्व इस दृष्टि से भी है कि इसके द्वारा अस्मिता को एक व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। आत्मनिर्वासन और अस्मिता के लोप की चर्चा तो प्रायः की जाती है किन्तु, उसके वस्तुगत कारणों का उल्लेख बहुत कम किया जाता है 'अँधेरे में' कविता के अन्तर्गत स्वप्न-कथा के रूप में तीन घटनाएँ वर्णित हैं : किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक शासन और जन-कान्ति का सूत्रपात। स्पष्टतः पहली दोनों घटनाएँ कवि की दृष्टि में अस्मिता के खोने का वस्तुगत कारण उपस्थित करती हैं किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा और सैनिक शासन के आतंक से अस्मिता के खोने की बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। संदर्भ की भयावहता अस्मिता के बोध की तीव्रता को और भी उभार देती है। भाव-बोध की यह तीव्रता संदर्भ के जिस प्रभावशाली चित्र से संबद्ध है, वह स्वयं मुक्तिबोध के शब्दों में "भाव का वस्तुमूलक आकलन" है। इसे ही आचार्य शुक्ल ने 'विभावन व्यापार' की संज्ञा दी है और टी०एस० इलियट ने 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' की।<sup>२</sup>

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३७.

२. सम्पादक सुधीश पचौरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ ४०८.

‘अँधेरे में’ कविता का प्रभाव जिस परिवेश के चित्रण पर निर्भर है, उसकी चित्रण-कला भी विचारणीय है। सबसे पहले कविता में रात में अँधेरे की भूमिका। क्या इस कविता में वातावरण के प्रभाव का बहुत कुछ श्रेय अँधेरे को नहीं है? अँधेरा काव्यगत वातावरण को भयावह और रहस्यमय बनाने के साथ ही मूर्त भी बनाता है। अँधेरे में वस्तुओं को मूर्तिमान करने की विशेष क्षमता इसलिए होती है कि आसपास की बहुत-सी वस्तुएँ ओझल हो जाती हैं, इसलिए अभीष्ट वस्तुएँ विशेष रूप से उद्भासित होती हैं। अँधेरे में रेखाओं की संख्या कम होती है। किन्तु उनके उभार की मात्रा अधिक होती है। उदाहरण के लिए मृत-दल की शोभा-यात्रा का चित्र इस कविता में इसीलिए इतना स्फुट (विविड) है कि उसकी पीठिका में रात का अन्धकार है। दिन के उजाले में यही जुलूस शहर की भीड़-भाड़ में दब जाता; किन्तु आधी रात के सन्नाटे में वह उभरकर सामने आता है। मशाल की रोशनी में लोगों के चेहरे, उनकी पोशाक, घोड़ों के रंग और संगीन की नोकें और भी चमक उठती हैं, यहाँ तक कि सन्नाटा बैड की आवाज को भी उभार देता है। दिन के उजाले में कोलतार की जो सड़क मामूली होती है वही रात के अँधेरे में ‘मरी हुई खिंची हुई कोई काली जिह्वा’ मालूम होती है। इसी तरह चौराहे, दरख्त और घंटाघर भी इस कथाकार के जादुई असर में और के और हो जाते हैं। उल्लेखनीय है कि ‘सीमान्तवादी’ भावबोध के लेखकों ने अपनी कृतियों में प्रायः अन्धकार का उपयोग किया है। निर्मल वर्मा की ‘लन्दन की एक रात’ कहानी में भी यही अन्धकार है। दोस्तोयस्की के उपन्यासों का घटना-काल प्रायः रात से सम्बद्ध है। कोई चाहे तो इसे एक कला-रूढ़ि भी कह सकता है, किन्तु मुक्तिबोध ने अन्धकार को स्वप्न-कथा से सम्बद्ध करके एक और आयाम दे दिया है।

कथन-शैली की दृष्टि से ‘अँधेरे में’ एक स्वप्नकथा है हिन्दी में कविता के अन्तर्गत ‘फैंटेसी’ के उपयोग के लिए मुक्तिबोध विख्यात हैं किन्तु इस उपयोग की कलात्मक सार्थकता पर बहुत कम विचार किया गया है। स्वयं मुक्तिबोध ‘फैंटेसी’ शब्द का प्रयोग काफी व्यापक अर्थ में करते थे उनके लिए ‘कामायनी’ भी एक तरह की ‘फैंटेसी’ थी इस प्रकार स्वप्न-कथा ‘फैंटेसी’ का एकमात्र प्रकार है।<sup>१</sup> मुक्तिबोध की दृष्टि में कविता के अन्तर्गत ‘फैंटेसी’ के प्रयोग की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। डॉ० नामवर सिंह जी के अनुसार यह एक स्वप्न कथा है जो एक स्वप्न शैली में कही गई है, “स्वप्न-शैली की कथा कहने के कारण ‘अँधेरे में’ कविता में काफी मितव्ययिता और सघनता आ गई है तथा वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने आप ही नजात मिल गई। स्वप्न-शैली के कारण एक ओर कथा अनिवार्यता चित्रात्मक हो गई तो दूसरी ओर एक से अधिक कथाओं के कमबद्ध संयोजन में भी लाघव आ गया। क्योंकि स्वप्नकम प्रकृत्या-अतार्किक विषयधर्मी होता है स्वप्न-शैली के साथ एक सुविधा यह भी है कि आवश्यकतानुसार देश और काल की दृष्टि से नितान्त असंबद्ध तथा दूर की वस्तुओं को भी एकत्र रखा जा सकता है। ‘अँधेरे में’ के अन्तर्गत टालस्टाय, तिलक और गॉंधी जी इसी

जादू की छड़ी से बुला लिये गये हैं। इस प्रकार सामान्यतः असंभव प्रतीत होने वाली घटना भी स्वयं में संभव दिखाई जा सकती है और उसके औचित्य के बारे में कोई संदेह नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए 'अंधेरे में' के अन्दर गाँधी की काव्य-नायक के कंधे पर एक शिशु रखकर शिशु थोड़ी देर बार सूरजमुखी फूल के गुच्छे में बदल जाता है जिसके स्थान पर अगले क्षण वजनदार रायफल आ जाता है। यदि स्वप्न-कथा की शैली न होती तो इस प्रकार के चमत्कार कैसे संभव होते।<sup>1</sup> किन्तु ये चमत्कार अपने-आप में सार्थक नहीं हैं। सवाल यह है कि कवि इन चमत्कारों के जरिए हासिल क्या करता है? यदि ये चमत्कार वास्तविकता के किसी विशेष पहलू को उजागर करने में समर्थ नहीं होते तो वे केवल कुतूहल के विषय होकर रह जाएंगे।

यहाँ यथार्थवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत अयथार्थवादी शिल्प के औचित्य का प्रश्न उठता है। 'समाजवादी यथार्थवाद के आग्रही कुछ जड़ लेखकों ने काफ़का के ही नहीं बल्कि बर्टोल्ट ब्रेख्त के अयथार्थवादी शिल्प पर एतराज किया है। किन्तु मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' की भूमिका में इस विषय पर निर्भ्रान्त विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि 'यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अन्तर है यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है - उस शिल्प के अन्तर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।'<sup>2</sup> इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध ने जैसा की कुछ पहले कहा है, "साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जो जीवन इस जगत् में वसतुतः जिया और भोगा जाता है - स्वयं द्वारा तथा अन्यो द्वारा। यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है तब उस पुनर्रचित जीवन में तथा वास्तविक जगत्-क्षेत्र में जिए और भोगे गये जीवन से सारतः एक होते हुए भी स्वरूप तत्व भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से निःसारतः एक हो, सिर्फ ऊपरी तौर पर एकसापन रखता हो तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल होता है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव है, उनकी जो पृथक्-पृथक् स्थिति है, उस अलगाव और पृथक् स्थिति के कारण ही कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद, उस कला में मूलबद्ध रूप से, एक अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न होता है।" 'अंधेरे में' कविता के अन्तर्गत अपनाए गए स्वप्न-कला के अयथार्थवादी शिल्प में निहित यथार्थवादी दृष्टिकोण की इससे स्पष्ट व्याख्या अनावश्यक है।

निस्सन्देह 'अंधेरे में' सामान्य स्वप्न-कथा नहीं, बल्कि दुःस्वप्न का कथालोक है जिसमें हर चीज प्रायः कुछ विकृत, कुछ अन्यथा रूप में दृष्टिगत होती है। किन्तु काव्य-नायक की असाधारण मनःस्थिति को देखते हुए यह असंगत नहीं लगता। काव्य-नायक के मन पर परिस्थितियों का इतना गहरा दबाव है कि वह अतिरिक्त भयाक्रान्त

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३६.

२. कामायनी : एक पुनर्विचार - भूमिका।

है। उसने अपने बहुमूल्य भावों और विचारों को उपचेतन के तलघर में छिपा दिया है। एकाकीपन में उसे अपनी ही आकृति भूतों जैसी दिखाई पड़ती है। उसके मन में हर समय किसी-न-किसी दुर्घटना की आशका है। हर समय उसके मन में यह खटका लगा हुआ है कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह प्रत्येक दुर्घटना का कारण अपने-आपको मानता है : “मानो मेरे कारण ही लग गया मार्शल-लॉ वह/मानो मेरी निष्क्रिय सजा ने संकट बुलाया/मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना।” ऐसी मनःस्थिति में दुःस्वप्नों का आना अस्वाभाविक नहीं।

किन्तु ये दुःस्वप्न उन्हीं लोगों को अवास्तविक लग सकते हैं जो बड़ी-से-बड़ी दुर्घटना के अभ्यस्त हो चुके हैं और जिनकी खाल मोटी हो चुकी है। क्या वह मशाल-जुलूस अवास्तविक है जिसमें रात को वही कथाकार, कवि, आलोचक, मन्त्री, उद्योगपति आदि शहर के कुख्यात हत्यारों के साथ शामिल हाते हैं जो दिन में विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केन्द्रों और घरों में मिलकर षड्यन्त्र करते हैं। एक फासिस्ट खतरे का आभास देने वाला यह जुलूस कैसे अवास्तविक कहा जा सकता है, जबकि दंगों में इससे भी ज्यादा भयावह अनुभव से हम गुजर चुके हैं? इसी प्रकार सैनिक प्रशासन भी यथार्थ से अधिक अतिरंजित नहीं इस माहौल में “भागता मैं दम दम छोड़/घूम गया कई मोड़” की बेचैनी भी काफी जानी-पहचानी अनुभूति है। इस सामान्य वर्णन के प्रसंग में सम्भवतः सबसे मार्मिक है अपने कमरे में मृत पड़े हुए उस कलाकार का चित्र, जिसका तृषार्त अन्तर मुक्ति का इच्छुक था और जो निरन्तर मुक्ति के यत्नों के साथ था, किन्तु अचानक झोंक में आकर क्या कर गुजरा कि सन्देहास्पद समझा गया और मारा गया वह वधिकों के हाथों। परन्तु सबसे दहशत-भरा दृश्य है ‘स्क्रीनिंग’ का, जब काव्य-नायक को दूटे-से स्टूल पर बिठाकर उसके शीश की हड्डी तोड़ी जा रही है और अस्थि-कवच को निकालकर मस्तक-तन्त्र की जाँच की जा रही है। पढ़ते-पढ़ते जार्ज आर्वेल का ‘१६८४’ याद आ जाता है जो अब ‘फैन्टेसी’ न होकर एक जीती-जागती सच्चाई बन गया है। यदि ‘अंधेरे में’ कविता में वास्तविकता का केवल यही निषेधात्मक पक्ष होता तो ऐसी अनेक निषेधात्मक कविताओं की तरह ‘अंधेरे में’ भी एक सपाट रचना होती। कविता का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसका सम्बन्ध अन्धकार के विरुद्ध लड़ने वाली शक्तियों से है। कुछ लोगों के लिए यह एक किंवदन्ती मात्र है और वे उस पर खामोश रहते हैं, किन्तु काव्य-नायक की दृष्टि में “यह कथा नहीं है, यह बस सच है।”<sup>१</sup> उल्लेखनीय है कि भयाकान्त काव्य-नायक के मस्तिष्क में दुःस्वप्नों के साथ जन-कान्ति का भी स्वप्न आता है। यह इच्छापूर्ति भी हो सकती है। इसे कुछ लोक वास्तविकता पर आशावादी कल्पना का आरोप भी कह सकते हैं। किन्तु देखना यह है कि कविता के अन्तर्गत अन्य स्वप्न-चित्रों के समान ही यह स्वप्न-चित्र भी काव्यात्मक मूर्तिमत्ता के साथ चित्रित हुआ है या नहीं? और असंदिग्ध है कि “कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई” की आवृत्तियों के साथ आने

वाला समूचा कान्ति-चित्र कहीं अधिक मूर्त और सजीव है। वैसे, वास्तविकता की जाँच की कसौटी इस स्वप्न के लिए भी वही होगी जो अन्य दुःस्वप्नों के लिए है। प्रश्न यह उठता है कि 'अँधेरे में' कविता स्वप्नशैली है या 'फैंटेसी'। डॉ० नामवर सिंह स्वप्नकथा 'फैंटेसी' का एक प्रकार मात्र ही मानते हैं वे कहते हैं – “कथा-शैली की दृष्टि से 'अँधेरे में' एक स्वप्नकथा है हिन्दी में कविता के अन्तर्गत 'फैंटेसी' के प्रयोग के लिए मुक्तिबोध विख्यात रहे हैं किन्तु इस उपयोग कि कलात्मक सार्थकता पर बहुत कम विचार किया गया है।”<sup>१</sup>

'अँधेरे में' की संरचना की सबसे बड़ी विशेषता है परस्पर विरोधी भाव-चित्रों का धूप-छाँही मेल, जिसे आचार्य शुक्ल 'विरुद्धों का सामंजस्य' कहते थे। अन्धकार की गहरी पटभूमि पर एक आलोक-रेखा खींचकर कालजयी काव्य-कृतित्व का जो प्रतिमान किसी समय निराला की 'राम की शक्तिपूजा' ने उपस्थित किया था, 'अँधेरे में' के द्वारा मुक्तिबोध ने उसी तरह की दूसरी काव्य-कृति प्रस्तुत की। 'अँधेरे में' के अन्तर्गत सर्वत्र अँधेरा ही नहीं है, बल्कि चमकती हुई रंग-बिरंगी मणियाँ भी हैं; बन्दूक और गोली ही नहीं, फूलों के गुच्छे भी हैं; पिशाच-आकृति पुरुष ही नहीं, सत्कर्मक सत्-चित्-वेदना-भास्कर नए-नए सहचर भी हैं; भय ही नहीं, मानव-करुणा भी है; पीड़ा ही नहीं, आस्था भी है। सम्पूर्ण कविता में कविता में अन्धकार के ऊपर अस्तित्व की एक अलौलिक सुगन्ध परिव्याप्त है :

रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित  
कोई गुरु-गम्भीर महान् अस्तित्व  
महकता है लगातार  
अँधेरे सुगन्ध है सब ओर,  
पर, उस महक-लहर में  
कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता  
छटपटा रही है, छटपटा रही है।<sup>२</sup>

अस्तित्व की यह सुगन्ध वस्तुतः मानवीयता है : कविता के अन्तर्गत मानवीय उपस्थिति ही सुगन्ध के रूप में व्याप्त है। इस उपस्थिति का कारण है कवि का परिप्रेक्ष्य-बोध। उचित परिप्रेक्ष्य के बिना जो परिवेश अन्य अनेक कवियों के लिए अन्धकारपूर्ण हैं, मुक्तिबोध ने उसी में यदि प्रकाश की किरण भी देख ली तो इसलिए कि उनकी दृष्टि भविष्य तक विस्तृत है। यह भविष्य ही आज के परिवेश को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। इसे काल्पनिक आशावाद कहकर टाला नहीं जा सकता। अस्तित्वहीन होते हुए भी भविष्य वर्तमान को एक अर्थ प्रदान करता है – इतिहास का यह एक विरोधाभास है।

कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है। एक कवि के नाते उनके लिए परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है। भाषा स्वभावतः इस अभिव्यक्ति का आधार है। 'अँधेरे में' कविता

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३६.

२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २४०.

के अन्तर्गत जगह-जगह इस काव्यगत अभिव्यक्ति की समस्याएँ भी उठाई गई हैं। जैसे कुछ नाटकों में नाटक के भीतर एक और नाटक होता है, 'अंधेरे में' कविता के अन्दर कविता की निजी समस्याओं का निरूपण करती है। इस प्रकार एक स्तर पर यह 'कविता के बारे में कविता' है। दिमागी 'स्क्रीनिंग' के बाद रिहा होने पर काव्य-नायक नए सिरे से जिन्दगी शुरू करने का संकल्प करता है। एक ओर साथियों की खोज और दूसरी ओर नए दायित्व के अनुरूप अभिव्यक्ति को सँजोने का प्रयास। वह जमीन पर पड़े चमकीले पत्थरों को चुनता है; लेकिन तुरन्त ही उन पत्थरों की अपर्याप्तता का अनुभव होता है।

किन्तु, असन्तोष मुझको है गहरा,  
शब्दाभिव्यक्ति-अभाव का संकेत।  
काव्य-चमत्कार उतना ही रंगीन  
परन्तु, ठण्डा।  
मेरे भी फूल हैं तेजस्विय, पर  
अतिशय शीतल।

इसके बाद यह असन्तोष जिस संकल्प का रूप लेता है उसकी झलक इन पंक्तियों में मिल सकती है :

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे  
उठाने ही होंगे।  
तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।  
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार  
तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें  
जिनमें कि प्रतिपल काँपता रहता  
अरुण कमल एक।<sup>१</sup>

डॉ० नामवर सिंह जी मुक्तिबोध की भाषा को निराला की भाषा के समान 'तेजस्विय' मानते हैं - "मुक्तिबोध के लिए भाषागत अभिव्यक्ति जीवन की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का मतलब है मठों और गढ़ों को तोड़ना साथ ही 'अरुण कमल' के लिए दुर्लभ पहाड़ों के ऊपर जाने का जोखिम उठाना है। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने काव्य-भाषा को एक नया तेवर दिया है जो नयी कविता की सामान्य काव्य-भाषा की तुलना में काफी अनपढ़ है और बेडौल लगती है। किन्तु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि मुक्तिबोध की भाषा काव्यात्मक नहीं है, इससे उसकी 'व्यंजकता' असिद्ध नहीं होता।<sup>२</sup> वे आगे कहते हैं "अंग्रेजी में कुछ आलोचकों ने कविता की भाषा के लिए 'पोएटिक' और 'पोएटिकल' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अनुकरणशील कवि प्रायः उस 'पोएटिकल' भाषा के प्रयोग करते हैं जो परम्परा से काव्यगत भाषा के रूप में प्राप्त होती है। इसके विपरीत

१. सम्पादक सुधीश पचौरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ ४१२.

२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २४३.

सृजनशील कवि परम्परागत, काव्यात्मक-भाषा' के दायरे को तोड़कर अपने नये कथ्य के अनुरूप 'काव्य-भाषा' का निर्माण करता है जो आरम्भ में खुरदरी रखते हुए भी अपने अर्थवत्ता में जानदार होती है। इस दृष्टि से निराला के समान ही मुक्ति-बोध की भाषा भी 'तेजस्विय' है। इस प्रकार 'राम की शक्ति-पूजा' में समास बहुलता संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के साथ ही बोलचाल की भाषा के टुकड़े पिरोये हुए है। उसी तरह 'अँधेरे में' की भाषा के दोनों रूप मिलते हैं।<sup>१</sup> कविता में भाषा कठिन है या सरल संस्कृतनिष्ठ है या बोलचाल की आदि प्रश्न अप्रसांगिक है। 'अँधेरे में' जैसी नाटकीय कविता में देखना यह है कि भाषा का नाटकीय उपयोग किस रूप में किया गया है और किस हद तक और कहना न होगा कि 'अँधेरे में' के अन्तर्गत संदर्भ-भेद से भाषा की नाटकीय भंगिमायें विविध हैं। कहीं सघन बिम्बों की माला है तो कहीं ठैठ सपाटबयानी। कहीं 'सांवली हवाओं में' काल टहलता है तो कहीं इस प्रकार के दो-टूक कथन :

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ  
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।

मुक्तिबोध की भाषा के संबंध में डॉ० नामवर सिंह जी एक अन्य स्थान पर लिखते हैं : "समग्रता मुक्तिबोध की काव्य-भाषा के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि "मुक्तिबोध की प्राणवान काव्यभाषा उनके प्राणवान कथ्य की प्रतिध्वनि है।"<sup>१</sup>

मुक्तिबोध की भाषा पर अनगढ़ता का आरोप लगाते समय इस बारे में सोच देखना चाहिए कि जिस तिलस्मी दुनिया की सृष्टि वे कविता में कर ले जाते हैं वह क्या असमर्थ भाषा से कभी सम्भव है? वस्तुतः 'अँधेरे में' का खौफनाक काव्य-संसार समर्थ भाषा की ही सृष्टि है। मुक्तिबोध जब कहते हैं कि "बिम्ब फेंकती वेदना नदियों" तो वे एक तरह से उस कवि-कल्पना की ओर भी संकेत करते हैं जो अपनी अजस्र सृजनशीलता में बिम्ब फेंकती चलती है। वस्तुतः कवि की शक्ति कल्पना के उस वेग और विस्तार से मापी जाती है जिसे अंग्रेजी में 'स्वीप आफ इमेजिनेशन' कहते हैं; और कहना न होगा कि "अँधेरे में" की कल्पना-शक्ति अपने समवर्ती समस्त कवियों में सबसे विकट और विस्तृत है। इसीलिए वे प्रगीतों के युग में भी महाकाव्यात्मक कल्पना के धनी और नाटकीय प्रतिभा के प्रयोगकर्ता है।

वस्तुतः मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता फुटकल शब्द-प्रयोगों से नहीं आँकी जा सकती और न दो-चार बिम्बों अथवा भाव-चित्रों से मापी जा सकती है। उनकी अभिव्यक्ति की गरिमा का पता उस विराट बिम्ब-लोक से चलता है जो 'अँधेरे में' जैसी महाकाव्यात्मक कविता अपनी समग्रता में प्रस्तुत करती है। इस सन्दर्भ के द्वारा ही कविता के अन्तर्गत आए हुए छोटे-छोटे सामान्य सपाट कथन भी अर्थ-गौरव से पूर्ण लगते हैं। उदाहरण के लिए:

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११६.



क्या करूँ, किससे कहूँ  
कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन?

जैसी सीधी-सादी उक्ति भी कविता के नाटकीय सन्दर्भ में आधुनिक मानव की ऐतिहासिक बेचैनी को ध्वनित करती है। 'अँधेरे में' भाषा की ऐसी नाटकीय सम्भावनाओं के उद्घाटन का अनूठा काव्य-प्रयास है। डॉ० नामवर सिंह जी एक अन्य स्थान पर 'अँधेरे में' कविता को नाटकीय संरचना वाली कविता कहा है।<sup>१</sup>

डॉ० नामवर सिंह जी ने कहा है, "अँधेरे में' मुक्तिबोध के प्रतिनिधि काव्य-संकलन 'चौद का मुँह टेढ़ा है' की ही अन्तिम कविता नहीं, कदाचित् उनकी रचना भी है जिसे कवि कर्म की चरम् परिणति भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर इसे यदि नई कविता की भी चरम् उपलब्धि कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। एक अन्य स्थान पर वे 'अँधेरे में' कविता को नई कविता की चरम् उपलब्धि स्वीकार करते हुए इसे निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी काव्य-कृति मानते हैं।<sup>२</sup>

---

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १५२  
२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २४४-४५.

अध्याय पंचम

हिन्दी आलोचना में  
डॉ० नामवर सिंह  
का  
योगदान

## हिन्दी आलोचना में डॉ० नामवर सिंह का योगदान

डॉ० नामवर सिंह जी मार्क्सवादी आलोचक हैं। उन्होंने परवर्ती हिन्दी आलोचना में प्रतिक्रियावादी रूझानों के खिलाफ निरंतर संघर्ष किया है, और मार्क्सवादी आलोचना के सामने जो चुनौतियाँ रही हैं, उनका साहस पूर्वक सामना किया है।

जनता के साहित्य की प्रायः यह कहकर आलोचना की जाती है कि उसमें व्यापकता तो होती है, पर गहराई नहीं होती। डॉ० नामवर सिंह जी ने इस प्रसंग में यह महत्वपूर्ण शंका उपस्थित की है : “देखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं तो वस्तुतः वह गहराई की कमी व्यापकता की ही कमी तो नहीं है? इसी तरह यदि कोई लेखक संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की जरूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही कमी नहीं?”<sup>१</sup> फिर उन्होंने गहराई की व्यापकता सापेक्ष बतलाते हुए कहा : “अनुभूति की गहराई की परीक्षा करते हुए हम अनिवार्य रूप से इसकी व्याप्ति में जा पड़ेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का अर्थ है उसके सम्पूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और भाव-सत्ता को प्रभावित करना और बहुत देर तक प्रभावित किये रहना। अनुभूति की गहराई का निर्णय एक व्यक्ति और एक क्षण से नहीं किया जा सकता है। गहराई का निर्णय दिक् और काल-सापेक्ष है।”<sup>२</sup> “दिक् और काल-सापेक्ष” से मतलब है मनुष्य की स्थानीय और सामयिक स्थिति से। इन दोनों स्थितियों के चित्रण में जितनी अधिक व्यापकता होगी, साहित्य में उतनी अधिक व्यापकता होगी, साहित्य में उतनी अधिक गहराई आयेगी। व्यापकता के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि वह साहित्य में राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक स्थितियों के चित्रण से ही सम्भव होती है। डॉ० नामवरजी ने इस धारणा का खण्डन किया है और कहा है कि प्रेम-जैसे विषय पर लिखे गये साहित्य में भी व्यापकता हो सकती है, बशर्ते कि उसे वृहत्तर सन्दर्भ में चित्रित किया गया हो। उन्होंने हिन्दी के ‘सुनीता’, ‘त्यागपत्र’, ‘शेखर: एक जीवनी’ तथा ‘नदी के द्वीप’-जैसे उपन्यासों का जिक्र किया है और उनमें गहराई के कमी इसलिये पायी है कि उनमें विषय को व्यापक स्तर पर नहीं उठाया गया है। उनका कहना है : “केवल नारी-पुरुष के परिणय पर लिखने से ही कोई उपन्यास संकुचित नहीं हो जाता; संकुचित वह तब होता है जब परिणय को सम्पूर्ण जीवन से काटकर चित्रित किया जाता है; और वे उपन्यास इसी अर्थ में संकुचित हैं। समस्या चाहे जितनी छोटी हो परन्तु व्यापक रूप से उपस्थित की जाने पर बड़ी हो जाती है। किसी उपन्यास की व्यापकता इस बात में है कि वह जीवन की छोटी से छोटी समस्या को कितने बड़े परिवेश में और किस स्तर पर उपस्थित करता है।”<sup>३</sup> यहां यह भी ज्ञातव्य है कि व्यापक “परिवेश में और ऊँचे स्तर पर किसी समस्या को रखने का कार्य वही लेखक कर सकता है जिसका सम्बन्ध अधिक से अधिक व्यापक सामाजिक परिवेश

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १३.

२. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १३.

३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १४.

से हो और इस सम्बन्ध के विषय में जिसकी समझ का स्तर भी काफी ऊंचा हो।<sup>१</sup> तात्पर्य यह कि साहित्य में गहराई लाने के लिये व्यक्ति और उसके अनुभूतियों का निषेध करने की नहीं, बल्कि सामाजिक के साथ उसके जटिल और सूक्ष्म सम्बन्धों को समझने की जरूरत है। 'साहित्यकार अपने व्यक्ति से शुरू करके अनेक अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों में चला जाता है और उसके साहित्य में इन सम्बन्धों की जटिलता गहरे से गहरे स्तरों पर व्यक्त होती चली जाती है।'<sup>२</sup> ऐसे साहित्यकार की रचना में ही, जिसमें कि यथार्थ का चित्रण संश्लिष्ट रूप में होता है, वास्तविक गहराई देखने को मिलती है। इस प्रकार गहराई व्यापकता से सम्बद्ध है। जहां सही अर्थों में व्यापकता है वहीं गहराई है। जहां व्यापकता नहीं है, वहां गहराई भी नहीं है। डा० नामवरजी के शब्दों में, "ताल के सूखने से उसकी व्यापकता के साथ गहराई भी कम होती है।"<sup>३</sup> छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य में लेखकीय व्यक्तित्व की चर्चा बार-बार की गयी है डा० नामवरजी ने लिखा है: "समाज और साहित्य के बीच की यह कड़ी अक्सर गा तो टूट जाती है या फिर आवश्यकता से अधिक महत्व पा जाती है। पर वह कड़ी न तो अस्तित्वहीन है और न स्वतः सम्पूर्ण।"<sup>४</sup> उन्होंने उसकी वैज्ञानिक व्याख्या की है और उसका अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसके वस्तुगत आधार की ओर संकेत किया है। साहित्य-रचना में लेखक के व्यक्तित्व का महत्व है, लेकिन "इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वयं-भू और सर्वोपरि है।"<sup>५</sup> उन्होंने आगे लिखा है कि "समाज के इतिहास के बीच प्रत्येक व्यक्ति का एक अपना भी इतिहास है", लेकिन "लेखक की विशिष्टता उसकी व्यक्तिगत इकाई के अतिरिक्त अधिकांशतः उसके सम्बन्धों और सम्बन्धों की समझदारी पर निर्भर है।"<sup>६</sup> सामाजिक सम्बन्ध ही लेखकीय व्यक्तित्व का वस्तुगत आधार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लेखकीय 'प्रतिभा' और 'विशिष्टता' कोई अव्याख्येय वस्तु नहीं है। उसके कारणों का निर्देश सम्भव है और वे कारण सामाजिक होते हैं। समाज के साथ लेखक के जो सम्बन्ध होते हैं, वे सामाजिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। यदि लेखक समाज के साथ अपने सम्बन्ध को दृढ़ करते हुए सामाजिक परिवर्तन में अधिकाधिक योग दे तो उसका व्यक्तित्व अधिकाधिक विकसित होगा। व्यक्तित्व को अपने पाप में पूर्ण मान लेने का अर्थ है उसे जड़ बना देना, जबकि व्यक्तित्व एक विकासशील तत्व है। लेखक के व्यक्तित्व का महत्व इस बात में है कि वह समाज को 'साहित्य' में बदल देता है, लेकिन इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि "लेखक अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को ही अभिव्यक्त करता है।"<sup>७</sup> यह जरूर है कि "संकीर्ण दृष्टि वाले लेखकों का सामाजिक चित्र रहस्यात्मक अर्थात् अस्पष्ट। इसके विपरीत व्यापक पैनी दृष्टि वाले सहृदय समझदार लेखकों द्वारा प्रस्तुत चित्र अधिक से अधिक वास्तविक होता है।"<sup>८</sup> प्रगति-विरोधी हिन्दी आलोचकों ने अनुभूति का भी प्रश्न उठाया है और उसकी वैयक्तिकता पर बल दिया है। डा० नामवरजी अनुभूति का कार्य अर्थात् व्यवहार से अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं और हम कार्य करने के साथ ही अपने से बाहर समाज की सीमा में आ जाते हैं और हमारा कार्य सामाजिक हो

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १४.
२. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १८.
३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ २२.
४. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ५४.
५. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ४८.

जाता है।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में 'एकदम वैयक्तिक' अनुभूति की सत्ता स्वीकार सकना सम्भव नहीं है। उन्होंने अज्ञेय का जिक्र किया है जो 'सत्य' के साथ 'तथ्य' का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं, लेकिन उन्हें यथार्थ का "वह स्तर सबसे प्रिय है जहाँ केवल भाव की सत्ता हो और तथ्य को पहचानने का कोई उपाय न हो।"<sup>२</sup> डॉ० नामवरजी ने आगे लिखा है : "इस प्रकार अज्ञेय का सत्य तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर भी ऐसा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे फिर तथ्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। ऐसा सम्बन्ध जिसमें सम्बन्ध हो न हो, अपना खण्डन आप है। यह तो आत्महत्या करके जीवित रहने की तरह है।"<sup>३</sup> आत्महत्या करके जीवित रहना अर्थात् अनुभूति को व्यवहार से विच्छिन्न कर सकना सम्भव नहीं है। फिर अज्ञेय—जैसे लेखकों में जो अनुभूति देखने को मिलती है, वह क्या है? सामाजिक वास्तविकता से उसका क्या सम्बन्ध है? डॉ० नामवरजी के अनुसार, "विकलता के मूर्त चित्र और विकलता की अनुभूति दोनों एक चीज नहीं है। विकलता के मूर्त चित्र वास्तविक है लेकिन विकलता भ्रम है और इस भ्रम के कारण वह वास्तविक चित्र भी कुछ सीमित, खण्डित और धुंधला हो जाता है।"<sup>४</sup> मतलब यह है कि अज्ञेय जैसे लेखकों के साहित्य में भी दो चीजें होती हैं — एक सामाजिक वास्तविकता और दूसरी उसके प्रति लेखक की प्रतिक्रिया। उसमें चित्रित सामाजिक वास्तविकता सत्य होती है, जबकि उसे प्रति की गयी लेखक की प्रतिक्रिया भ्रम। यह भ्रमपूर्ण प्रतिक्रिया वास्तविकता के चित्रण को किंचित् विकृत कर देती है, लेकिन इससे उसमें निहित सत्य भ्रम नहीं हो जाता। इस अवस्था में अज्ञेय—जैसे लेखकों के साहित्य को उसके अन्तर्विरोध के साथ समझने की जरूरत है, "इस तरह के सम्पूर्ण साहित्य को चुटकी से उड़ा" देने की नहीं। इस प्रसंग में डॉ० नामवरजी ने अन्तिम महत्वपूर्ण बात यह कही है कि "अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया है।"<sup>५</sup> वह वास्तविकता से सम्बद्ध होती है, लेकिन उसमें नवीनता तभी आती है, जबकि हम उसे बदलने और फिर से रचने के लिए संघर्षरत होते हैं। "अपने जीवन और परिस्थितियों को बदलने के क्रम में हमारी अनुभूतियाँ भी बदलती चलती हैं — उनमें नवीनता आती है।"<sup>६</sup> उदाहरणार्थ, "अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए जिस राष्ट्रीय भावना की अनुभूति प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला आदि आधुनिक साहित्यकारों को हुई वह हिन्दी साहित्य में सर्वथा नये थे।"<sup>७</sup> गहराई, व्यक्तित्व और अनुभूति की तरह ही स्वाधीनता के बाद के हिन्दी साहित्य में आस्था का प्रश्न भी उठाया गया है। गैर-कम्युनिस्ट लेखकों ने किसी विचारधारा या व्यवस्था में आस्था रखने के स्थान पर अपने 'विवेक' में आस्था रखने पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में डॉ० नामवर जी का कहना है : "दरअसल आस्था के सिलसिले में जिस 'विवेक' शब्द का बहुत नाम लिया जाता है, वह स्वयं बहुत गोल है। जिसको हम 'विवेक' कहते हैं, वह क्या कोई सर्वथा अन्तर्दृष्टि है? या उसका भी निर्माण अनुभवज्ञान से होता है? और जिस 'विवेक' को हम अपना कहते हैं, वह भी कितना अपना है और कितना पराया इसका निर्णय कैसे हो? देख-सुन, पढ़-गुनकर हम जो विचार बनाते हैं, उसके बारे में क्या हम दृढ़ता के

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ५७-५८.
२. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ५६.
३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ५६.
४. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६१.
५. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६५.
६. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६५.
७. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६५.

साथ कह सकते हैं कि वह नितान्त अपना है? 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' का जो लोग इतना ढोल पीटते हैं क्या वे सब विचार की दृष्टि से स्वतन्त्र है?"<sup>१</sup> इस तरह निजी 'विवेक' या पूर्ण 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की बात एक मिथ्या कल्पना है। यदि इसे स्वीकार करके चला जाये तो उसकी तर्कसंगत परिणति चरम सामाजिक अलगाव में होगी। इस कारण प्रश्न आस्था और अनास्था से नहीं, बल्कि इससे सम्बन्धित होने चाहिए कि लेखक किसमें अपनी आस्था रखे? डॉ० नामवर जी का मत है कि "आस्था की शक्ति उसके आधार से ही निर्धारित होती है", इसलिए इस प्रश्न का उत्तर "जनता के प्रति आस्था" से ही दिया जा सकता है। वे अनास्था को केवल मनोवैज्ञानिक व्याधि मानने के पक्ष में नहीं हैं और उसका हल भी समाज में ही ढूँढते हैं : "अनास्था केवल मनोवैज्ञानिक व्याधि नहीं है और न तो केवल मनोवैज्ञानिक उपचारों से दूर हो सकती है। जब तक बुद्धिजीवी की सामाजिक स्थिति नहीं बदलती अथवा कम से कम सामाजिक स्थिति बंदलने की भावना उसमें पैदा नहीं होती तब तक कोरे अलस चिन्तन से अनास्था का मिटाना असम्भव है। जिन सामाजिक स्थितियों ने उसमें अनास्था पैदा की है, उन्हीं में से आस्था भी खोजनी है।"<sup>२</sup>

जब जनता या मानव-समाज में आस्था रखने की बात की जाती है तब मध्यवर्गीय मनोवृत्ति और विचार-धारा के लेखक वर्तमान परिस्थिति को नितान्त निराशाजनक बतलाते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उनके पास सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अभाव है। यदि वे विश्व को तमाम घटनाओं को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो उन्हें जनता या मानव-समाज के विकास का ज्ञान हो जायेगा और तब उसमें अनास्था का कोई कारण नहीं रहेगा। डॉ० नामवर जी ने लिखा है : "कोई वजह नहीं है कि वर्तमान स्थिति में आस्था के बीज न हो! .....इतिहास के व्यापक परिवेश में देखने पर पता चलता है कि हमारा युग अतीत के अनेक अन्धकार-युगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकाशपूर्ण है। संसार की जनता आज पहले से कहीं अधिक संगठित और सूचना-सम्पन्न है। पहले आकांक्षाएँ थी, अब योजनाएँ भी हैं। जो इस इतिहास के निर्माण में सचमुच भाग ले रहे हैं, उन्हें इस शक्ति का पूरा अहसास है, अहसास नहीं है तो उन्हें जो इससे अलग है।"<sup>३</sup> यहाँ आस्था-अनास्था और आशा-निराशा के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात से भी हमें आगाह किया है कि मात्र आस्था और आशा की दुहाई देने से साहित्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता। इसके लिए जरूरी है कि साहित्य में उसका सम्बन्ध यथार्थ के ज्ञान से हो। यदि कोई साहित्य हमारे यथार्थ-ज्ञान को समृद्ध करता तो वह अनास्था और निराशापरक होने पर भी श्रेष्ठ होता है। "साहित्य में ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिनकी अनास्था में भी सैकड़ों बौनों की आस्था से अधिक शक्ति है। आशावाद के नाम पर आशा से अन्त होने वाली सैकड़ों तुकबन्दियों की अपेक्षा निराशा की कविताएँ अधिक शक्तिशाली हैं। यही वजह है कि तुलसी और सूर के विनय के पद बावजूद निराशा के आज भी लोगों को शक्ति प्रदान करते हैं।"<sup>४</sup>

सातवें दशक में साहित्य के सम्बन्ध में कुछ और प्रश्न भी उठाये गये, जैसे साहित्य की शक्ति, साहित्य

- 
१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ८६.
  २. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ८६.
  ३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ९०.
  ४. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ८८.

की स्वायत्तता, साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध आदि से सम्बन्धित प्रश्न। यदि ये प्रश्न पुराने थे तो उनका सन्दर्भ नया था। नयी पीढ़ी के लेखक एक ओर व्यवस्था का विरोध कर रहे थे और दूसरी ओर अपने विरोध को निरर्थक भी बतला रहे थे। साहित्य की शक्ति में उनकी आस्था डिग गयी थी और उन्होंने घोषित कर दिया था कि साहित्य "एक निरर्थक शब्द उगलने वाली विराट् मशीन" है। डॉ० नामवर सिंह जी ने विरोध की निरर्थकता की इस अनुभूति का कारण लेखकों का 'वर्ग-बोध-शून्य' होना बतलाया है और साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को अपने विरोध की निरर्थकता की अनुभूति का ही प्रक्षेपण माना है। साहित्य को शक्तिहीन मानने के दृष्टिकोण को रद्द करते हुए उन्होंने लिखा है : "साहित्य की शक्ति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करना 'रेमांटिसिज्म' हो सकता है किन्तु साहित्य को सर्वथा अशक्त मान लेना यथार्थवाद नहीं है।"<sup>१</sup> निरर्थकता की इस स्थिति से उबरने का एक ही रास्ता है और वह है वर्गीय पक्षधरता। डॉ० नामवर जी के अनुसार, "हम क्या करें?" यह सवाल आज हिन्दी लेखकों के भी सामने है.....और इस दिशा में लेखक को पहले इस सवाल का उत्तर देना पड़ेगा कि तुम किधर हो? किसके साथ हो?"<sup>२</sup> इसी तरह जब कभी खुले या छुपे तौर पर साहित्य की स्वायत्तता की वकालत की गई है, उन्होंने उसका भी विरोध किया है। उनका कहना है कि हमारे साहित्य में साहित्य की स्वायत्तता का आग्रह इसलिए किया जाता है कि उसमें परजीवी वर्ग के मूल्यों का प्रवेश गहराई तक हो चुका है। उन्होंने आगे कहा है : "साहित्य की स्वतंत्र सत्ता के लिए आग्रह करने वाले अनेक साहित्यकार अंजाने ही साहित्य में परजीवी मूल्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। निःसंदेह आज के युग में इस मूल्य की अभिव्यक्ति काफी नफीस ढंग से की जाती है उदाहरण के लिए आलोचना में ही दो अंक पहले प्रकाशित निर्मल वर्मा के लेख 'साहित्य और आस्था' के अन्तर्गत साहित्य की स्वायत्त सत्ता का विरोध करते हुए घुमा-फिराकर अंततः बड़े बारीक ढंग से साहित्य को स्वयं अपनी ही विश्वासा का 'स्वतंत्र संवाहक' कहा गया है। निर्मल वर्मा, निःसंदेह, लूकाच के साक्ष्य पर यह कहते हैं कि 'साहित्य विवेक की वाणी दे'। यही नहीं बल्कि उनके लिए प्रमुख समस्या यह है कि एक सम्पूर्ण समाज में सृजन-कल्पना की भूमिका का पुनराविष्कार किस प्रकार किया जाये।' किन्तु इस भूमिका का पुनराविष्कार करते हुए वे 'साहित्य के स्वयं अपने विवेक की छानबीन' तक आकर रुक जाते हैं जो स्पष्टतः एक दुश्चक्र है।"<sup>३</sup> पुनः उन्होंने यह प्रश्न किया है : "क्या एक सम्पूर्ण समाज में सृजन-कल्पना की भूमिका को पुनराविष्कार के लिए समाज को उत्पादनशील शक्तियों-उत्पादक वर्गों की ओर जाना मना है?" और लिखा है : "एक परजीवी वर्ग के मूल्य ही इस दिशा में जाने से रोक सकते हैं।"<sup>३</sup> डॉ० नामवर सिंह जी ने उस विशाल उत्पादक वर्ग की चर्चा की है जो गाँवों में रहता है और जिसे अभी तक स्वाधीन भारत की आधुनिक उत्पादक-प्रणाली से बाहर रखा गया है और अपना मत इन शब्दों में स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है : "जिस देख में इतनी बड़ी सृजन-शक्ति अवरुद्ध पड़ी हो और फिर भी उससे ऑर" मूँदकर यदि कोई

१. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७०.

२. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७०.

३. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३-भूमिका।

बौद्धिक या लेखक अपनी 'सृजन-कल्पना' की भूमिका के पुनराविष्कार की साधना करे तो उस साधना का बंजनपन पूर्वानिश्चित है। इस विशाल उत्पादन-शक्ति के क्रान्तिकारी रूपान्तर के प्रयास में ही 'सृजन-कल्पना' का उन्मोचन सम्भव है।<sup>१</sup> इस प्रकार प्रश्न साहित्य की स्वायत्तता का नहीं, बल्कि उसे उत्पादक-वर्ग और उत्पादन-प्रक्रिया से जोड़ने का है। प्रगतिवाद के आन्दोलन के पहले दौर में भी साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध की चर्चा हुई थी। डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है : "स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इन मध्यवर्गीय मनोवृत्ति वाले लेखकों के मानसिक विकास का ग्राफ दृष्टव्य है। आरम्भ में उन्होंने मार्क्सवादी और कम्युनिज्म की संकीर्णता के विरुद्ध व्यापक मानवतावाद और आन्तरिक सामाजिकता का नारा दिया, फिर राजनीति को एकांगिता के विरुद्ध संस्कृति को खड़ा किया....."<sup>२</sup> ऊपर हम साहित्य को 'संस्कृति की मूल्य प्रक्रिया' से सम्बद्ध करने का डॉ० रघुवंश का प्रयास देख चुके हैं उससे डॉ० नामवर सिंह जी के कथन की पुष्टि होती है। 'भौतिक जीवन के मूल्यों की सीमाओं का अतिक्रमण', 'आध्यात्मिक परम श्रेयस् की ओर अग्रसर होना', 'उच्च भूमियों के चरम मूल्य और उसकी उपलब्धियों की अवर्णनीयता, अज्ञेयता और अव्याख्येयता' – संस्कृति की इन विशेषताओं के आगे स्थिर और जड़ मूल्यों में बँधा हुआ सारा मार्क्सवाद, कम्युनिज्म और राजनीति हेय है! डॉ० नामवर सिंह जी ने स्वभावतः अपनी आलोचना में इस विचारधारा का खण्डन किया है। उनकी मान्यता यह है कि बिना राजनीतिक व्यक्तित्व के "आज के युग में कोई भी लेखक सार्थक साहित्यकार नहीं हो सकता।"<sup>३</sup> लेकिन राजनीति का कोई संकीर्ण अर्थ उन्होंने नहीं लिया है उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "साहित्य को राजनीतिक चेतना से सम्पन्न बनाने का अर्थ साहित्य-सृजन और चिंतन में राजनीतिक संघर्ष की रणनीति और कार्यनीति का अमल नहीं है।"<sup>४</sup> आगे भी उन्होंने वामपंथी लेखकों में एकता कायम करने की समस्या पर विचार करते हुए कहा है : "वस्तुतः साहित्य में राजनीतिक मतभेदों को अनावश्यक तूल देने वाले वामपंथी लेखक यह मोटी सी बात भूल जाते हैं कि मार्क्सवाद एक राजनीतिक सिद्धान्त नहीं बल्कि एक विश्वदृष्टि है – राजनीतिक जिसका एक पक्ष है, निःसंदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष! यह विश्वदृष्टि लेखक को अपने समय की वास्तविकता को उसकी समग्र जटिलता के साथ समझने में सहायक होती है। इसलिए लेखकों के बीच कायदे से विश्वदृष्टि पर बहस होनी चाहिए, राजनीतिक लाइन पर नहीं।"<sup>५</sup> यहाँ यह शंका उपस्थिति की जा सकती है कि मार्क्सवादी आलोचक होने के बावजूद डॉ० नामवर सिंह जी ने क्या पार्टी लाइन को छोड़ने की बात कहकर पक्षधरता को छोड़ने की बात नहीं कही है? इस प्रसंग में सोवियत आलोचक ब्लादिमिर श्चेरबिना का यह कथन दृष्टव्य है – "लेनिन के इस कथन का कि साहित्य को अवश्य ही पार्टी हेतु का अंग होना चाहिए, एक व्यापक अर्थ है। उसकी तुलना उनके प्रस्ताव की उन संकीर्ण व्याख्याओं से नहीं की जा सकती, जो हमें कुछ साहित्यिक शोध कार्यों में देखने को नहीं मिलती। हम सबों को वे कुत्सापूर्ण प्रयत्न याद हैं जिनके द्वारा पार्टी के साथ औपचारिक सम्बद्धता को लेखकीय पक्षधरता की मुख्य

१. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३-भूमिका।

२. आलोचना, जनवरी-मार्च, १९७४.

३. विवेचना संकलन, प्रथम खण्ड, संयोजक उमा राव, प्रथम संस्करण, भारती भण्डार, इलाहाबाद, पृष्ठ ११७.

४. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७४.

५. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७४.



पहचान के रूप में पेश किया गया था। लेनिन ने अपने लेख (पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य) में इस आवश्यकता पर बल दिया था कि सामाजिक जनवादी लेखकों का एक दल, जोकि अराजक-मनोवृत्ति का था, पार्टी लाइन का अनुसरण करे। लेकिन जहाँ तक सामान्य रूप से इस बात के साहित्य पर लागू होने का प्रश्न है, पार्टी लाइन का मतलब है पार्टी द्वारा घोषित आध्यात्मिक मूल्यों और विचारों का योगफल।<sup>१</sup> डॉ० नामवर जी ने इसी व्यापक और गंभीर अर्थ में राजनीति को लिया है। संकीर्ण अर्थ में साहित्य में राजनीति को लाने से "व्यवस्था के.... सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष पर प्रहार करने वाली गहरी रचनायें अपनी आपाततः अराजनीतिक भंगिमा के कारण प्रायः उपेक्षित रह जाती हैं" और सतही रूप में साहित्य को राजनीति में लाना "प्रायः ऐसे प्रचारात्मक साहित्य के निर्माण को बढ़ावा देता है जो रचना नहीं बल्कि अनुवाद होता है।"<sup>२</sup> किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ठेठ राजनीतिक कविता जैसी कोई चीज होती ही नहीं विश्वसाहित्य में उच्च कोटि की अनेक राजनीतिक कविताये सुलभ हैं। अवश्य ही हर अच्छी कविता की तरह राजनीतिक कविता की रचना के भी अपने विशेष नियम हैं – नियम का अर्थ कोई फार्मूला नहीं बल्कि रचना में अन्तर्निहित नियम।<sup>३</sup> डॉ० नामवर सिंह जी के विचारों को समग्रता में जानने के लिए राजनीतिक कविता के संबंध में व्यक्त किये गये उनके इस विचार को ध्यान में रखना जरूरी है।

छायावाद के बाद हिन्दी कविता में यथार्थवाद का विकास प्रारम्भ होता है अब कविता भावपरक होने की जगह रूपपरक अर्थात् आत्मपरक होने की जगह वस्तुपरक होने लगती है। छायावादी कविता और नयी कविता में मूल अंतर इसी बात को लेकर है। डॉ० नामवर जी के शब्दों में, "छायावादी काव्य-रचना की प्रक्रिया जहाँ भीतर से बाहर की ओर है वहाँ नयी कविता की रचना-प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है। एक में रूप में भाव का आरोपण है तो दूसरी में रूप का भाव में रूपांतरण है।"<sup>४</sup> भावपरकता अथवा आत्मपरकता छायावादी कविता और नयी कविता दोनों में ही है, क्योंकि उसके बिना कविता की रचना संभव नहीं है, लेकिन उसके अनुपात और स्वरूप में अन्तर है। छायावादी कविता में जहाँ भाव की प्रधानता थी, वहाँ नयी कविता में रूप की प्रधानता है; छायावादी कविता जहाँ आत्मप्रधान थी वहीं नयी कविता वस्तुप्रधान है। जहाँ तक स्वरूप में अन्तर की बात है, छायावादी कविता के भाव अथवा अनुभूति अपने संदर्भों से जितनी संबद्ध थी, नयी कविता के भाव अथवा अनुभूति उससे अधिक सम्बद्ध है। इसी बात को डॉ० नामवर जी ने इस प्रकार कहा है : "नयी कविता छायावाद के समान ही 'अनुभूति' पर बल देते हुए भी भावों के शाश्वतता के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं है। इसलिए नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूतियों के परिवर्तित संदर्भ पर विशेष बल देते हैं। स्पष्टतः इनका बल रागात्मक से अधिक रागात्मक संबंधों पर है।"<sup>५</sup> स्वभावतः कविता की विषय-वस्तु में घटित होने वाले इस परिवर्तन में उसकी संरचना में भी परिवर्तन उपस्थिति कर दिया : "छायावाद के विपरीत नयी कविता में जिस प्रकार रूप भाव ग्रहण करता है, तथ्य सत्य हो जाता है और

- 
१. लेनिन एण्ड प्रॉब्लम्स ऑफ लिटरेचर, प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मास्को, १९७४, पृष्ठ १०६-७.
  २. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७४.
  ३. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, १९६८.
  ४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २५.
  ५. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २५.

अन्ततः अनुभूति निर्वैयक्तिक हो जाती है, उससे स्वयं कविता की 'संरचना' में भी गहरा परिवर्तन आ जाता है।<sup>१</sup> यह परिवर्तन संक्षेप में यह है : "औसत नयी कविता 'क्रिस्टल' या 'स्फटिक' की सघन संरचना के समान है, उसका प्रमाण यह है कि आलोचना में उद्धरण की सुविधा के लिए उससे कोई एक अंश चुनना कविता के साथ अन्याय हो जाता है और जब भी ऐसा किया जाता है तो कविता की अन्विति की कीमत पर – समग्र अर्थ की कीमत पर।"<sup>२</sup> यह तो संरचना संबंधी बात हुई। नयी कविता ने कविता के अन्तर्ग्रथन को भी महत्वपूर्ण बना दिया, जिसका मतलब यह है कि कविता में "अर्थवान शब्द की समस्त सम्भावनाओं की खोज किये बिना ही एक सामान्य वक्तव्य या सन्देश के आधार पर किसी कविता पर मूल्य-निर्णय" देना गलत है। अन्तर्ग्रथन-सम्बन्धी इस मान्यता के सम्बन्ध में यह संदेह नहीं होना चाहिए कि यह कविता को समाज से काटकर पूर्णतः स्वायत्त रूप में स्थापित करने का प्रयास है। यह वस्तुतः कविता की 'सापेक्ष स्वतंत्रता' की प्रतिष्ठा है, जो नयी कविता में दिखलायी पड़ी और जिसकी 'वस्तुवादी' आलोचना में अक्सर ही उपेक्षा की जाती है। डॉ० नामवर जी ने हिन्दी में यथार्थवादी कविता के विकास को गौर से देखा है और एक उत्तरदायी मार्क्सवादी आलोचक की तरह उसमें उभरने वाले नये प्रतिमानों को चिह्नित किया है। जैसा कि उन्होंने 'प्रतिमान' की भूमिका में लिखा है, नये प्रतिमान उन्होंने गढ़े नहीं हैं, बल्कि नयी कविता के माध्यम से जो जाने हुए थे, उन्हें केवल 'पहचानने' का प्रयास किया है। ऐसा भी नहीं है कि ये सभी प्रतिमान नितान्त नवीन हैं और नयी कविता में पहली बार प्रकट हुए हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही ज्ञातव्य है कि ये प्रतिमान हिन्दी कविता के यथार्थवादी विकास के दौर में महत्वपूर्ण हो उठे हैं। डॉ० नामवर जी ने इन अपेक्षाकृत नये प्रतिमानों की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है। नये प्रतिमानों की सार्थकता केवल इस बात में नहीं है कि वे विशेष प्रकार की कविता के मूल्यांकन में सहायक हों, बल्कि इस बात में भी है कि वे सम्पूर्ण कविता के मूल्यांकन के लिए नया आधार या नयी दृष्टि प्रदान करें। डॉ० नामवर जी ने अपनी पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' में ही इस ओर संकेत किया था: "रचनाओं के पारस्परिक प्रभाव के बारे में प्रायः यही समझा जाता है कि पहले की लिखी रचना से ही कोई रचना प्रभावित होती है। परन्तु इस बात की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता कि रचनाएँ अपनी परवर्ती रचनाओं से भी प्रभावित होती हैं। एक रचना से दूसरी रचना का अर्थ बदल जाता है, मूल्य घट-बढ़ जाता है और वह अपने आपसे कुछ ओर हो जाती है। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि मानस ने बाल्मीक रामायण को और कामायनी ने मानस को पाठकों के लिए बदल दिया।"<sup>३</sup> अपने एक लघु निबन्ध में नयी कविता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है: "नयी कविता का चस्का लगने के बाद छायावादी या रीतिकालीन या भक्तियुगीन कविताओं को पुराने ढंग से आस्वादित करना असम्भव है – नयी कविता ने पुरानी कविताओं को भी एक नया अर्थ दे दिया है और इस प्रकार उसने समूची काव्य-परम्परा को एक नये परिप्रेक्ष्य में उद्भासित कर दिया है।"<sup>३</sup> बात दोनों स्थलों पर रचना की की गयी है, लेकिन

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २६.

२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ५३.

३. नई कविता, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, १९६७, पृष्ठ ४०.

उसके मूल में रचना से उभरने वाले प्रतिमान ही है। इस तरह कविता के नये प्रतिमानों की सार्थकता उनकी व्याप्ति में है। डॉ० नामवर जी ने इन्हीं कारणों से अपने 'प्रतिमान' में अधिक-से-अधिक स्पष्ट रूप में उनके विवेचन का प्रयास किया है। इस प्रयास में स्वभावतः उनका सामना रस के प्रतिमान से हुआ है जो कि कविता के मूल्यांकन का परम्परागत प्रतिमान रहा है। उन्होंने नयी कविता के लिए रस की तत्त्व-मीमांसा से अधिक महत्वपूर्ण उसकी शब्दार्थ-मीमांसा को माना है। "उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल भी रस के प्राचीन तत्त्ववाद के प्रति बहुत आग्रहशील नहीं थे। यही नहीं बल्कि.....उन्होंने रस को अपने युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप नयी सामाजिक मान्यताओं का आधार प्रदान किया था"<sup>१</sup> और "एक व्यावहारिक समीक्षा के नाते आचार्य शुक्ल इस बात को भलीभाँति जानते थे कि काव्य में अर्थ-मीमांसा द्वारा ही रस का निरूपण किया जा सकता है और कविता का अर्थ-मीमांसा के बिना अनायासलभ्य अनुभूति के आधार पर कविता का मूल्यांकन करना मूल्यांकन नहीं, बल्कि 'प्रभावामिव्यञ्जक' आलोचना का उपहासास्पद नमूना है।"<sup>२</sup> शब्दार्थ-मीमांसा रस-निरूपण की पद्धति है, जिसकी विशेषता है कविता का ठोस वस्तुगत विश्लेषण। डॉ० नामवरजी ने लिखा है : "किसी रचना में रस-निरूपण करते हुए संस्कृत आचार्य न तो यह बतलाते हैं कि यहाँ कवि का अभिप्राय यही था और न वे एक सहृदय के हृदय पर पड़ने वाले प्रभावों की भावोच्छ्वसित प्रतिक्रिया ही व्यक्त करते हैं। सर्वत्र और सदैव ध्यान काव्यगत शब्दों पर रहता है और विश्लेषण प्रक्रिया उन शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले अर्थ की ध्वनि-तरंगों के सुदूरतम विस्तार को पकड़ने की दिशा में प्रयत्नशील रहती है।"<sup>३</sup> यथार्थवादी कविता के लिए शब्दार्थ-मीमांसा ही अधिक उपयोगी है, क्योंकि उसका वस्तुगत स्वरूप ही अधिक महत्वपूर्ण होता है, आत्मगत स्वरूप नहीं। शब्दार्थ-मीमांसा पर बल देने का अर्थ यह कतई नहीं है कि नामवरजी ने यथार्थवादी कविता में अनुभूति की उपेक्षा की है। उनका आग्रह केवल कविता पर वस्तुपरक ढंग से विचार करने का है। प्रमाण में उनके ये शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं : "माना कि काव्य में अनुभूति की प्रधानता होती है और काव्य सर्वप्रथम अनुभूति का ही विषय है, किन्तु यह काव्यानुभूति यदि गूँगे का गुड़ नहीं है तो उसे विवक्षित करने के लिए शब्दार्थ-मीमांसा के 'बौद्धिक' व्यापार के श्रमसाध्य पथ से होकर गुजरना ही पड़ेगा।"<sup>४</sup>

कविता के बाद डॉ० नामवर जी ने कहानी में दिलचस्पी ली है और उस आलोचनात्मक ढंग से विचार कर हिन्दी में "कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है।" जैसा कि उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृति 'कहानी : नयी कहानी' की भूमिका में संकेत किया है, उनके कहानी-सम्बन्धी आलोचनात्मक निबन्धों का उद्देश्य व्यापक रहा है : "हिन्दी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य-समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा-नाटक आदि साहित्य-रूपों का विधिवत् विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है।....इसीलिए मेरे निकट

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ५०.
२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ४७.
३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ५६.
४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ५६.

इनका महत्व केवल कहानियों की समीक्षा तक सीमित न होकर एक व्यापक समीक्षा-पद्धति के निर्माण की दिशा में है।<sup>१</sup>

'कविता के नये प्रतिमान' में डॉ० नामवर जी ने कविता की सापेक्ष स्वतंत्रता के सिद्धान्त के बारे में लिखा है : "यह मान्यता कविता के तथाकथित सभी नये प्रतिमानों की आधारशिला है और इससे काव्य-पाठ एवं काव्य-विश्लेषण की पद्धति का प्रश्न सबसे पहले उभरकर सामने आता है।"<sup>२</sup> कविता की आलोचना के लिए जिस तरह उसके पाठ का महत्व है, उसी तरह कहानी की आलोचना के लिए भी उसका पाठ बुनियादी महत्व रखता है। बिना उसके कहानी के मूल आशय को जानना कठिन है : "कहानी साहित्य है और साहित्य का सम्भावित अर्थ अनुमान का विषय नहीं है। इस अनर्थ को रोकने के लिए कहानी के मूल पाठ का आधार अपेक्षित है। इसके समीपी संपर्क के बिना कहानी का मूल आशय जानना असंभव है।"<sup>३</sup> उन्होंने पुनः लिखा है : "अब तक के आलोचनात्मक अनुभव से यही प्रतीत होता है कि किसी अच्छी कृति का निर्णय करने के लिए एक बने-बनाये मानदंड से आरम्भ करने की अपेक्षा पढ़ने की प्रक्रिया से शुरू करना अधिक उपयोगी हो सकता है।"<sup>४</sup> इसलिए आज कहानी की आलोचना में भी "मुख्य प्रश्न पद्धति का है, प्रतिमान का नहीं।"<sup>५</sup> कहानी की पाठ-प्रक्रिया में उन्होंने साधारण पाठक की पाठ-प्रक्रिया को विशेष महत्व दिया है : "कहानी लोकप्रिय साहित्य है; साहित्यिक माध्यम के रूप में यह प्रकृति से ही जनतांत्रिक है। इसलिए इसके रसास्वादन के ढंग का जनतांत्रिक होना स्वाभाविक है। रसास्वादन के जनतांत्रिक ढंग का अर्थ है बहुत कुछ अनुभवपरक ग्रहण। जनसाधारण बहुत-सी बातों को अनुभव के सहज बोध से ही समझने और ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। यह सहज-दृष्टि कभी-कभी बेहद अचूक साबित होती है। पं. श्री-पट्टे पण्डित जहाँ चूक जाते हैं, वहाँ सहज-दृष्टि जड़ तक पहुँच जाती है।"<sup>६</sup> लेकिन "स्पष्ट रहे कि 'सहज-दृष्टि' 'साधारण-दृष्टि' नहीं है" और "इससे भी बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि सहज-बोध जिस साधारण पाठक में है, स्वयं उसे ही उद्बुद्ध और प्रबुद्ध किया जाय।"<sup>७</sup> कहानी की पाठ-प्रक्रिया का अद्भुत वर्णन करने के बाद डॉ० नामवर सिंह जी ने लिखा है : "इस प्रकार एकदम मूल तो नहीं, फिर भी काफी करीब की एक कहानी-प्रतिमा निर्मित होती है इस प्रतिमा का निर्माता स्वयं पाठक है। कहानी पढ़ने का मतलब है एक ऐसी ही प्रतिमा का निर्माण। सिर्फ प्रभाव ग्रहण करना पढ़ना नहीं है। पढ़ना भी एक रचनात्मक कार्य है।"<sup>८</sup> तात्पर्य यह कि प्रबुद्ध पाठक कहानी को अपने भीतर फिर से रेंचते हुए समग्रता से उसका प्रभाव ग्रहण करता है, आंशिक रूप में नहीं। ऐसी पाठ-क्रिया ही कहानी की आलोचना का आधार हो सकती है।

आधुनिकतावादी कहानियों में कहानी के रूप का विघटन पूरी तरह से हो चुका है। डॉ० नामवर जी कहानी के रूप को, जोकि उसका विधागत वैशिष्ट्य है सुरक्षित रखने के पक्ष में हैं। उनका कहना है : "नये भाव-सत्य

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ४३.

२. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १४५.

३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १६५-६६.

४. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १६६.

५. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ८६.

६. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६०.

७. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६१.

के अनुसार कहानी का रूप बदलता जरूर है लेकिन इतना नहीं बदलता कि वह कहानी ही न रह जाय। कहानी का रूप कहानी के भीतर ही बदला जा सकता है जैसा कि समय-समय पर महान से महान कहानीकारों ने किया है।<sup>१</sup> फिर उन्होंने चेखव का साक्ष्य दिया है : “कहानी का रूप चेखव ने भी बदला और एकबारगी उसने कथानक-संबंधी पूर्ववर्ती धारणा को तोड़कर अलग कर दिया, लेकिन उसने कहानीपन का दामन एकबारगी नहीं छोड़ दिया।”<sup>२</sup> इसके बाद डॉ० नामवर जी ने यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया है : “कहानी शिल्प के भी मालिक वही है जो उसके गुलाम है। क्या साहित्य, क्या जीवन, सभी क्षेत्रों में स्वाधीन होने की सामर्थ्य उन्हीं के लिए संभव है जिनमें अधीन रहने की योग्यता है।”<sup>३</sup> कहानी का विधागत वैशिष्ट्य है उसका कहानीपन। डॉ० नामवर जी इस कहानीपन के प्रबल पक्षधर हैं। वे कहते हैं : “कविता में जो स्थान लय का है कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छंद मुक्त हो जाये, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्य-रचनाओं के बारे में भी यह बात लागू होती है।”<sup>४</sup> लेकिन कहानीपन का मतलब ‘किस्सा’ या ‘आख्यायिका’ नहीं है। उन्होंने आगे कहा है : “जिस प्रकार कविता में अर्थ-व्यंजना अथवा वस्तु-व्यंजना से भिन्न लय की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कहानी में भी वस्तु-व्यंजना से भिन्न कहानीपन की कल्पना करना खतरनाक है। वस्तु-व्यंजना से रहित लय कोरे पद्य को जन्म देती है, उससे रहित कहानीपन कोरी आख्यायिका को।”<sup>५</sup> ई०एम० फोर्स्टर ने ‘कहानी’ और ‘कथानक’ में अन्तर किया है उनके अनुसार ‘कहानी’ घटनायें कार्य-कारण-शृंखला में आबद्ध नहीं होती, जबकि ‘कथानक’ में घटनाओं का विन्यास इसी रूप में होता है। डॉ० नामवर जी ‘कहानी’ की अपेक्षा ‘कथानक’ को महत्व देते हैं, लेकिन वे कथानक में कार्य-कारण-शृंखला के यान्त्रिक अथवा तार्किक रूप को पसंद नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे कहानी में किसी हद तक उस कुतूहल-तत्त्व की रक्षा करना चाहते हैं, जोकि उसकी आदिम विशेषता है। कार्य-कारण-शृंखला में आबद्ध कथानक पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि कहानी का ढाँचा कृत्रिम और जड़ हो गया है। इस स्थिति से उबरने का उपाय यह है कि न तो कहानी के कुतूहल-तत्त्व को पूरी तरह से छोड़ा जाये और न कथानक की कार्य-कारण-शृंखला को। कहानी का संबंध ‘क्या’ से है, जो भविष्य की ओर खींचता है और कथानक का संबंध ‘क्यों’ से है, जोकि अतीत की ओर उन्मुख करता है। डॉ० नामवर जी के अनुसार, “मुख्य कथा का घटना-विन्यास इस प्रकार का हो कि ‘फिर क्या हुआ’ का कुतूहल न तो एक मर्यादा से अधिक प्रबल होने पाये और भूमिका इतनी लंबी हो कि मन अतीतवासी हो रहे। कहानीगत यह ‘क्या’ प्रायः ‘क्यों’ से मर्यादित होता है। कला इसी में है कि पाठक तो अपनी ओर से केवल ‘क्या’ के पीछे चलता रहे लेकिन कहानी समाप्त होने के बाद अनायास ही उसके मन में ‘क्यों’ का भी उत्तर मिल जाये अथवा ‘क्यों’ जानने के लिए बेचैनी पैदा हो जाये।”<sup>६</sup> कहानी का ‘फैन्टेसी’ से भी घनिष्ठ संबंध रहा है। प्राचीन

१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २८-२९.
२. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २६.
३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २६.
४. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३१.
५. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३१.
६. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १२०.

काल और मध्यकाल में ही नहीं, आधुनिक में भी, जिसमें यथार्थवाद का बोलबाला है 'फैंटेसी' वाली कहानी लिखी गई है। फैंटेसी की दुनिया एक अलग दुनिया होती है और उस पर इस दुनिया के कायदे-कानून लागू नहीं होते। उसके कायदे-कानून अपने होते हैं। ऐसी स्थिति में फैंटेसी वाली कहानियों की क्या कैफियत है? डॉ० नामवर सिंह जी का कहना है : "सामान्यतः इस इन्द्रजाल या जादुई दुनिया को हम कल्पना की सृष्टि कहते हैं और अपने मन को समझाने के लिए इस कल्पना में सत्य के अंश का समावेश मान लेते हैं, लेकिन हकीकत में उसे यथार्थ से हेय समझते हैं। क्योंकि हमारे मन पर यथार्थवाद का आतंक है। ऐन्द्रजालिक कहानियों की व्याख्या भी जब तक हम सत्य के रूप में नहीं कर लेते, हमें संतोष नहीं होता। हमारा यथार्थवादी संस्कार उन कहानियों में अपने आप को बहुत ज्यादा पढ़ता है या पढ़ लेने की कोशिश करता है। लेकिन ऐन्द्रजालिक या फैंटेस्टिक कहानियों के अवास्तविक होने का कोई दूसरा पहलू नहीं है क्या?"<sup>१</sup> वह पहलू है परिस्थिति का अप्रत्याशित रूप में बदल जाना। संवेदनशील लेखक इसे समझते हैं और विस्मय के साथ उसे हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। "ऐसे भी लोग हैं जिन्हें अचानक लगता है कि या तो वे स्वयं एकदम बदल गये हैं या फिर एक अजीब सी परिस्थिति में आ गये हैं। यह आकस्मिक बोध ही 'फैंटेसी' को जन्म देता है। जिनकी आँखें अंधी नहीं हुई हैं उनके लिए हर घटना या दुर्घटना एक झटका है और हर झटका एक ऐसी दुनिया में फेंक देता है जो सपना मालूम होती है।"<sup>२</sup> इस प्रकार फैंटेसी का जीवन में एक वास्तविक आधार है और वह सत्य अथवा वास्तविकता की अभिव्यक्ति का कोई ऊपरी या कल्पित माध्यम नहीं है। वास्तविकता से उपजी हुई फैंटेसी द्वारा समर्थ लेखक वास्तविकता के उस पहलू का साक्षात्कार करा सकता है, जो अति परिचित होने के कारण हमारे लिए अदृश्य रह जाता है। डॉ० नामवर जी ने फैंटेसी के बारे में लिखा है : "यदि बचपन के मोह में बचकाना हरकतें करने के बजाय बचपन की जिज्ञासा, कुतूहल, विस्मय होने की क्षमता को प्रौढ़ रूप में इस्तेमाल करे तो इसी साधारण जीवन के बीच से असाधारण जीवन-सत्य का उद्घाटन किया जा सकता है इस तरह वास्तविकता के नये-नये स्तर उद्घाटित करने के अतिरिक्त कहानी को और क्या चाहिए?"<sup>३</sup> यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि नामवर जी ने फैंटेसी का जो महत्व प्रतिपादित किया है वह कोई मार्क्सवाद और यथार्थवाद-विरोधी बात है। फैंटेसी की पद्धति यथार्थवादी न हो, पर यदि उसके माध्यम से जीवन का सत्य प्रकट होता है तो मार्क्सवाद और यथार्थवाद का उससे कोई विरोध नहीं हो सकता। मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त अभिव्यक्ति के एक रूप को ही मान्यता नहीं देता। वह उस नये अथवा पुराने रूप के इस्तेमाल के पक्ष में है जो जीवन के सामान्य नियमों और प्रवृत्तियों के मेल में यथार्थ के चित्रण में सहायक होता है।<sup>४</sup>

कहानी-संबंधी डॉ० नामवर सिंह के उपरोक्त विचार कहानी के रूप और शिल्प से संबंधित हैं। उन पर पुनः रूपवादी होने का आरोप न लगे इसलिए उनके विचारों को समग्रता में जानना जरूरी है। उन्होंने स्पष्ट लिखा

- 
१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६७.
  २. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६६.
  ३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ११०.
  ४. लेनिन एण्ड प्रॉब्लम्स ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ १६७.

है : "आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए।"<sup>१</sup> जिस कहानीपन की चर्चा की गई है और जिसे कहानी के लिए अनिवार्य बतलाया गया है, आखिर उसकी सफलता की कसौटी क्या है? डॉ० नामवर जी का कहना है : "कहानी के कहानीपन की सफलता का अर्थ है उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता।"<sup>२</sup> यह 'अर्थवत्ता' या 'सार्थकता' भी कम अमूर्त नहीं है। उन्होंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है : "कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संकान्ति' अथवा 'काइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खण्डगत अन्तर्विरोध भी वृहद अन्तर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे जाता है।"<sup>३</sup>

यदि इससे भी उनका मार्क्सवादी रूप स्पष्ट न हो, तो उनके इस कथन को देखना चाहिए : "जो कुछ हाथ लग जाये या दृष्टि में पड़ जाये वह सब सार्थक नहीं है। हर घटना में अन्तर्विरोध को लक्षित करना एक बात है लेकिन युग के मुख्य अन्तर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करना बिल्कुल दूसरी बात है। कहानीकार की सार्थकता इस बात में है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के संदर्भ में अपने कहानियों की सामग्री चुनता है।"<sup>४</sup> साथ ही इस कथन को भी : "जागरूक कथाकार की हर कहानी उसके सामाजिक संघर्ष की दिशा में एक कदम होती है और यदि दिशा उसको हर छोटी से छोटी कहानी को वृहदतर अर्थवत्ता प्रदान करती है। कहानी के लिए अभिष्ट वर्ण्य-वस्तु चुनने के कर्म में भी एक निश्चित-दृष्टि होती है।"<sup>५</sup> इस जीवन-दृष्टि का आधार विचार होता है। यदि कहानी में विचार हुआ तो "साधारण-सा विषय कमशः वस्तु और वस्तु से मूल्य में बदल जाता है। देखते-देखते एकसामान्य विषय के बीच से एक विशिष्ट विचार अथवा जीवन-मूल्य मूर्तिमान हो उठता है। इस उपलब्धि के उपरान्त वही पूर्व परिचित कहानी एक नये रूप में आलोचित हो उठती है। निरर्थक से लगने वाले ब्योरे सार्थक हो जाते हैं। कहानी के बिखरे हुए तत्व का एक अखण्ड रूपाकार में ढल पड़ते हैं।"<sup>६</sup>

कविता और कहानी-संबंधी डॉ० नामवर जी के विचारों से यह स्पष्ट है कि आलोचना का आधार रचना का वस्तुगत रूप ही हो सकता है। अपनी 'छायावाद' नामक पुस्तक में भी उन्होंने एक प्रसंग में कहा था कि "सामाजिक सत्य कविता से खोज निकालने की चीज है, ऊपर से आरोपित करने की नहीं।"<sup>७</sup> और 'कविता के नये प्रतिमान' में भी कहा है : "कवि के अभिप्राय को जानने का साधन कविता के बाहर यदि सुलभ भी हो तो कायदे से उस साधन के उपयोग के लिए आलोचक बाध्य नहीं है। वस्तुतः कविता के मूल्यांकन के लिए कवि का निजी अभिप्राय अप्रासंगिक है। प्रासंगिक अभिप्राय वही है जो कविता में व्यक्त हुआ है, जो व्यक्त नहीं हो सका है, उसमें स्वयं कवि की दिलचस्पी हो तो ही आलोचक को उससे कोई प्रयोजन नहीं।"<sup>८</sup> 'इतिहास और आलोचना' में भी इसी तरह के विचार देखने को मिलते हैं : "सामाजिक पृष्ठभूमि का अनुसंधान साहित्य के अध्ययन का साधन-मात्र है,

- 
१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २६.
  २. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३१.
  ३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३२.
  ४. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३७.
  ५. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ५६.
  ६. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १५२.

साध्य नहीं। साहित्यिक विवेचन की समाजशास्त्रीय विवेचन बना देना अवैज्ञानिक है।<sup>१</sup> लेकिन आलोचना का कार्य यहीं तक सीमित नहीं है। छायावाद की भूमिका से जो पंक्ति ऊपर उद्धृत की गई है, ठीक उसके आगे यह पंक्ति भी है : "काव्यगत सामाजिक सत्य को तत्कालीन सामाजिक आधार के साथ मिलाकर देख- का सवाल तो उसके बाद उठता है।"<sup>२</sup> यही 'प्रतिमान' की इस पंक्ति का भी आशय है जिसे पहले उद्धृत किया जा चुका है : "स्वयं उस काव्य-संसार की पड़ताल का सवाल इसके बाद उठता है लेकिन वह सवाल उठता है अवश्य।"<sup>३</sup> डॉ० नामवर जी की स्पष्ट मान्यता है कि आलोचना मात्र व्याख्या नहीं, निर्णय भी है, वह मात्र आस्वादन नहीं, मूल्यांकन भी है। 'शुद्ध साहित्य' के सिद्धान्त को परजीवी अर्थात् उपभोक्ता-वर्ग का सिद्धान्त को बतलाते हुए उन्होंने कहा है : "इस 'शुद्ध साहित्य' के साहित्य-शास्त्र का उस उक्त परजीवी वर्ग से संबंध और भी गहरा और सूक्ष्म है। इस साहित्य-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक कलाकृति अथवा साहित्यकृति का आस्वादन ही समीक्षा का मुख्य कर्म है और आलोचक अधिक से अधिक सहृदय या रसिक का कृति के आस्वादन में सहायक होता है। उल्लेखनीय है कि इस आलोचक की दृष्टि में प्रत्येक कृति आस्वाद की वस्तु है। इस प्रकार 'स्वाद' ही परम मूल्य है।.....परजीवी वर्ग के 'उपभोग' का ही साहित्यिक रूपांतर 'आस्वाद' है। कृति को 'वस्तु' मानना और वस्तु भी ऐसी जो सभी संदर्भ सूत्रों से विच्छिन्न हो, परजीवी वर्ग की प्रकृति के ही अनुरूप है।"<sup>४</sup>

आलोचना के लिए जो चीज सबसे अधिक आवश्यक है, वह है परम्परा-बोध या इतिहास-बोध : "परम्परा इतिहास के अन्दर केवल संबंध-भावना नहीं, बल्कि साहित्य का एक निश्चित प्रतिमान है इसलिए इतिहास अन्ततः समीक्षा का प्रतिमान है। ऐतिहासिक बोध वस्तुतः आलोचनात्मक बोध है- ऐसा आलोचनात्मक बोध जिसे आत्म परीक्षा के लिए हर साहित्य सतत् परखता चलता है।"<sup>५</sup> यह ऐतिहासिक बोध अतीत की नहीं बल्कि समसामयिकता की देन होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साक्ष्य से यह बात प्रमाणित है। आचार्य शुक्ल जी पर लिखे गये निबन्ध में उन्हें मूलतः स्वच्छन्दावादी या जनवादी आलोचक कहा गया है। उनकी जनवादी चेतना उनकी समसामयिक परिस्थितियों और उनमें रचे जाने वाले सही साहित्य की देन थी। इसी तरफ इशारा करते हुए डॉ० नामवर सिंह जी ने कहा है : "जो लोग हर चीज को ऊपर-ऊपर से देखने के आदी हैं उन्हें सम्भवतः यह बात असंगत प्रतीत होगी कि शुक्ल जी ने जिस छायावाद की कड़ी आलोचना की, उसी छायावादी काव्य-बोध र उनका प्रतिमान कैसे निर्मित हो सकता है? किन्तु दिमाग पर थोड़ा-सा जोर डालने पर यह बात साफ हो जायेगी कि शुक्ल जी का प्रतिमान उस साहित्यिक एवं सामाजिक बोध का सूचक है, जो छायावाद युग में सामान्य रूप से प्रचलित था, जिसके एक छोर पर विभिन्न छायावादी कवि तथा उनके सहृदय प्रशंसक थे, तो दूसरे छोर पर उने कट्टर विरोधी भी थे और उन दोनों छोरों के बीच क्या एक ऐसा समुदाय नहीं था, जो छायावाद की रचनात्मक उपलब्धियों का स्वागत करते

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १८३.
२. कविता के नये प्रतिमान, भूमिका।
३. कविता के नये प्रतिमान, २२४.
४. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३.
५. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १७०.



हुए भी उसकी भावुकता, वैयक्तिकता, अन्तर्मुखता, रहस्यवादिता और रूपगत निरी विचित्रता का आलोचक था और फिर क्या उसी युग में प्रेमचंद भी नहीं थे?"<sup>१</sup> उन्होंने 'अतीत की जीवंत स्मृति के साथ ही परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति जागरूकता' को 'संश्लिष्ट समसामयिक बोध' की संज्ञा दी है और कहा है : "आज आलोचना का कार्य इसी संश्लिष्ट समसामयिक बोध को परिभाषित और संगठित करना है—स्वयं अधिक से अधिक लोगों को इस आत्म-बोध के प्रति सतर्क करते हुए उसके निर्माण में सहायता देना है।"<sup>२</sup>

डॉ० नामवर जी ने कविता के वस्तुरूप को ही आलोचना का आधार बनाने की जो बात कही है, उसे अपर पक्ष को भी समझ लेना चाहिए। 'कविता के नये प्रतिमान' में उन्होंने कविता के बारे में लिखा है : "उसकी सत्ता वस्तुनिष्ठ इसलिए है कि रचना—कर्म सम्पन्न होने के बाद वह कवि—सहृदय—निरपेक्ष रूप में अस्तित्व ग्रहण करती है, किन्तु यह अनुभव सिद्ध सत्य है कि अपने वस्तुनिष्ठ सत्ता के बावजूद प्रत्येक कविता ग्रहण की प्रक्रिया में कुछ—न—कुछ सहृदय—सापेक्ष हो जाती है। अनन्य परतंत्रता के आदर्श के बावजूद यथार्थ में उसकी स्थिति सापेक्ष—स्वतंत्र होती है। कविता की यह सापेक्ष—स्वतंत्रता अनिवार्य है। यह अनिवार्यता प्रत्येक मूल्यांकन की भी सीमा है आलोचक की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुनः सृष्टि अपने लिए करता है वह यथासंभव अधिक—से—अधिक मूल कृति के निकट हो।"<sup>३</sup> आलोचना की भाषा पर विचार करने के क्रम में डॉ० नामवरजी ने आलोचना को मूलतः एक सृजनात्मक विधा कहा है और लिखा है : "प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार, पाठक और आलोचक इस एक ही प्रक्रिया के अंग हैं, जिनमें से प्रत्येक की प्रतिक्रिया उस प्रक्रिया की ही अनिवार्य कड़ी है। इस प्रकार आलोचक कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता, किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है, प्रसंगात् उससे कवि या पाठक प्रभावित भले ही हो जाएँ, लेकिन उस एक सांस्कृतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिए प्रथमतः वह रचनाकार के समान ही अपने लिए लिखता है, क्योंकि किसी ओर के लिए लिख ही नहीं सकता — चाहे भी तो नहीं। यदि वह किसी ओर के लिखता है तो अपने साथ ही दूसरे को भी छलता है। इस दृष्टि से आलोचक मूलतः उक्त सांस्कृतिक, प्रतिक्रिया के अंतर्गत अपने अनुभवों, विचारों और सपनों को ही सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है आलोचक का आत्मसंघर्ष भी रचनाकार के समान ही महत्वपूर्ण है — बल्कि व्यवहार में वह और भी पेचीदा है क्योंकि वह दुहरा होता है। इसीलिए रचनाकार के समान ही आलोचक के समाने भी माध्यम की समस्या उपस्थित होती है। 'आलोचना की भाषा' की समस्या, इस प्रकार माध्यम की ही समस्या है। माध्यम की वास्तविक समस्या का सामना वे आलोचक करते हैं जिनके लिए आलोचना एक सर्जनात्मक प्रयास है।"<sup>४</sup>

यहाँ इस बात से चौंके की जरूरत नहीं है कि सर्जनात्मक आलोचना और मार्क्सवादी आलोचना में कोई

- 
१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ २०३.
  २. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ २००.
  ३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १०८.
  ४. आलोचना, सम्पादकीय, जुलाई—सितम्बर, १९६७.

विरोध नहीं है। हर श्रेष्ठ आलोचना सर्जनात्मक होती है। डॉ० नामवर जी ने यह जो लिखा है कि "आलोचना कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता" इसमें और मार्क्सवादी आलोचना की इस मान्यता में भी कोई मौलिक मतभेद नहीं है कि आलोचना 'शैक्षिक' होती है। उन्होंने आलोचना में केवल रचनाकार की तरह संलग्नता (Involvement) की बात कही है। जिस तरह मार्क्सवादी रचनात्मक साहित्य भी रचनाकार की संलग्नता के उपरान्त ही अपनी उद्दिष्ट शैक्षिकता को उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध कर सकता है, उसी तरह मार्क्सवादी आलोचना के लिए भी आलोचक की संलग्नता आवश्यक है। बिना इसके रचनात्मक साहित्य भी शिक्षा या उपदेश-मात्र है और आलोचनात्मक साहित्य भी। डॉ० नामवरजी ने आगे स्पष्ट कर दिया है : "सच्ची आलोचना वैयक्तिक प्रतिक्रिया से शुरू होकर भी अन्यापेक्ष आकांक्षा से युक्त होती है....।" जहाँ तक आलोचना की भाषा का प्रश्न है, उनके अनुसार, "सच्चे रचनाकार की तरह कृति आलोचक की भाषा भी व्यक्ति-विशिष्ट होती है, और यह विशिष्टता केवल शब्दावली में ही नहीं, बल्कि कभी-कभी उसके 'स्वर' अथवा 'तेवर' से भी साफ पहचानी जा सकती है।" आलोचना में पारिभाषिक शब्दावली से निर्मित एक विशेष प्रकार की भाषा की माँग की जाती है, लेकिन आलोचना की विभिन्न पद्धतियों और उनकी अपनी शब्दावलियों को देखते हुए एक सामान्य भाषा का निर्माण सम्भव नहीं है। डॉ० नामवर जी के शब्दों में, "सर्जनशील आलोचक किसी एक कृति अथवा एक के बाद एक अन्य कृतियों के साक्षात्कार की प्रक्रिया में उत्पन्न विशिष्ट काव्यानुभूति का वर्णन और मूल्यांकन करते हुए....धीरे-धीरे एक प्रणाली तथा उससे सम्बद्ध एक विशिष्ट शब्दावली का विकास करता चलता है।"

डॉ० नामवरजी मुख्यतः छायावादोत्तर हिन्दी कविता के आलोचक हैं, लेकिन अलग से उनकी पुस्तक प्रगतिवादी या नयी कविता पर नहीं, बल्कि छायावादी कविता पर है। इसका क्या कारण है? उन्होंने छायावादी कविता पर पुस्तक लिखना क्यों जरूरी समझा? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि वे मार्क्सवादी आलोचक हैं। मार्क्सवाद की एक विशेषता अतीत की बहुमूल्य विरासत को स्वीकार करके चलना है। हिन्दी आलोचना में जब छायावाद के खिलाफ घृणा का प्रचार करके हमें अपनी प्रगतिशील विरासत से वंचित करने का प्रयास किया जा रहा था, डॉ० नामवर जी ने अपनी 'छायावाद' (१९५५) नामक पुस्तक लिखकर हमें छायावाद की विशेषताओं से परिचित कराया और उसके सकारात्मक पक्षों को रेखांकित किया। 'छायावाद' का महत्व समझने के लिए उसे रघुवंश जी जैसे आलोचकों के इस प्रकार के कथन के संदर्भ में रखकर देखना चाहिए : "जिस प्रकार जनता का जीवन समस्त आदर्श कल्पनाओं, स्वप्नों तथा प्रेरणाओं के बावजूद अन्दर से खोखला और बौना था, उसी प्रकार काव्य का सारा सौन्दर्य, सारी कल्पना, सारे आदर्श वायवी रहे हैं। जिस प्रकार जनता के जीवन का सारा अध्यात्म, भक्ति, समर्पण आंतरिक आस्था तथा विश्वास पर आधारित न होकर मात्र बाह्य आकर्षण और चमत्कार से प्रेरित थे, उसी प्रकार छायावाद का सारा रहस्यवाद,

आनंदवाद, मानवतावाद अंतः अथवा बाह्य यथार्थ के संदर्भ से हीन, मात्र खोखला था।<sup>१</sup> यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब 'कविता के नये प्रतिमान' में डॉ० नामवर सिंह जी ने छायावाद के स्वच्छन्दतावाद का तिरस्कार कर नयी कविता के यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना चाहा है तो फिर छायावाद का महत्व बतलाने का क्या अर्थ है। इन दोनों बातों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। विरोध तब नजर आता है जब हम छायावाद की व्याख्या के पीछे स्थित डॉ० नामवरजी की द्वन्द्वात्मक दृष्टि को नहीं समझते और यह मान लेते हैं कि वे छायावादी काव्य-दृष्टि को आज भी उपयोगी मानते हैं। उन्होंने स्वयं उक्त प्रश्न का उत्तर दिया है : "सवाल दरअसल छायावादी काव्य के स्वीकार-अस्वीकार का नहीं, बल्कि छायावादी दृष्टि को स्वीकार-अस्वीकार करने का है। छायावादी दृष्टि और छायावादी हिन्दी काव्य एक नहीं है। छायावादी दृष्टि के बावजूद छायावादी कवियों ने हिन्दी साहित्य को अनेक कालजयी कृतियाँ दी हैं।...इसलिए छायावाद की पूर्ण अस्वीकृति की बात एकदम बेबुनियाद है। दरअसल यह एक प्रवाद है जिसका प्रचार जान-बूझकर आज के लेखन के विरोधियों ने कर रखा है। छायावाद की पूर्ण अस्वीकृति उतनी ही गलत है जितनी पूर्ण स्वीकृति।"<sup>२</sup> रघुवंशजी ने छायावाद को यथार्थशून्य कहा है, जबकि डॉ० नामवर जी ने अपनी पुस्तक के बारे में लिखा है कि "यह निबन्ध छायावाद की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छायाचित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन करने के लिए लिखा गया है।"<sup>३</sup>

स्वच्छन्दतावाद के उद्भव के सामाजिक कारणों की ओर शुक्लजी ने भी संकेत किया था। डॉ० रामविलास शर्मा ने छायावाद का सम्बन्ध अत्यंत स्पष्ट शब्दों में भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के उदत्ता-भरे दौर से जोड़ा था। उन्होंने छायावाद के वर्ग आधार का भी निर्देश किया था और उसकी असंगतियों को उसी की देन बतलाया था। छायावाद की समाजशास्त्रीय व्याख्या की यह चेष्टा अपेक्षित विस्तार और युक्तियों के साथ डॉ० नामवरजी की पुस्तक 'छायावाद' में सामने आयी। उन्होंने छायावाद की मूल प्रेरणा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना को माना : "यह सारा सौन्दर्य (छायावादी काव्य-सौन्दर्य) व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और वह स्वाधीनता भी व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है।"<sup>४</sup> इसी आधार पर छायावाद में मिलने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों के बीच अन्तस्सम्बन्ध की खोज की जा सकती है : "स्वानुभूति, कल्पना, प्रकृति का मानवीकरण आदि में कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध है और ये किसी एक ही मनोवृत्ति की तर्कसंगत परिणति हैं। इस मनोवृत्ति को ठीक-ठीक समझे बिना छायावाद के किसी विवेचन में सुसंगति और व्याख्या नहीं आ सकती।"<sup>५</sup> इसके अलावा छायावाद पर विचार करने के क्रम में हमें उसके विकास-क्रम को दृष्टि में रखना चाहिए, क्योंकि छायावाद "समाज से ऊपर सर्वथा शुद्ध भाव-राशि" न था, बल्कि सामाजिक परिस्थितियों का देन था और जैसे-जैसे सामाजिक परिस्थितियाँ विकसित हुई थीं, उसमें भी वस्तुगत और रूपगत विकास होता गया : "इस (राष्ट्रीय) जागरण में जिस

१. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ १४२.

२. आलोचना, अक्टूबर-सितम्बर, १९६७.

३. छायावाद, पृष्ठ ३.

४. छायावाद, पृष्ठ ४.

५. छायावाद, पृष्ठ ३.

तरह कमशः विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गयी और इसके फलस्वरूप 'छायावाद- संज्ञा का भी अर्थविस्तार होता गया ।'<sup>1</sup> व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना छायावादी कविता में कवियों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई। हिन्दी की जो कविता पहले निर्वैयक्तिक और इतिवृत्तात्मक थी, वह देखते-देखते वैयक्तिक और रागात्मक हो उठी। डॉ० नामवर जी ने इस आत्माभिव्यक्ति को सामन्ती बन्धनों के विरुद्ध नवोदित मध्यवर्ग की जनवादी चेतना का प्रमाण बतलाया है। छायावादी कविता का रहस्यवाद भी आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा का ही फल है। आत्माभिव्यक्ति की इस आकांक्षा में आत्म-प्रसार की आकांक्षा निहित थी। 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में डॉ० नामवर सिंह जी का रहस्यवाद पर जो निबन्ध संकलित है उसमें उन्होंने किंचित विस्तार से छायावादी रहस्यवाद की सामाजिक व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है : "यह जो अज्ञात असीम की अभिलाषा है वह वस्तुतः ज्ञात सीमाओं के असन्तोष से ही उत्पन्न हुई है और यह असन्तोष तथा अभिलाषा केवल दिमागी ऐय्याशी नहीं है, बल्कि इसका सामाजिक आधार है। यह असन्तोष और महत्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति की है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में सॉस लेने के लिए व्याकुल हो रहा थी।"<sup>2</sup> शुक्लजी ने रहस्यवाद की लौकिक व्याख्या की थी, डॉ० नामवरजी ने उसकी सामाजिक व्याख्या की है। डॉ० नामवर जी की व्याख्या भी शुक्लजी की व्याख्या की तरह ही महत्वपूर्ण है। "जड़ सामूहिक ग अथवा सामाजिकता से उबरने के लिए आधुनिक युवक ने प्रकृति में प्रवेश किया और यहाँ उसे अपने व्यक्तित्व के विकास का वातावरण दिखायी पड़ा....।"<sup>3</sup> प्रकृति के साथ छायावादी कवियों ने जो यह नया सम्बन्ध कायम किया, उसमें उन्हें जो मुक्तता और सौन्दर्य मालूम पड़ा, वह आधुनिक युग में उपलब्ध वैज्ञानिक प्रगति के कारण। डॉ० नामवर जी कहते हैं : "कुछ लोगों को यह विरोधाभास प्रतीत हो सकता है किन्तु यह सच है कि विज्ञान के द्वारा प्रकृति से संघर्ष करते हुए भी आधुनिक मानव ने उससे प्रेम किया। जिस प्रकृति से संघर्ष, उसी से प्रेम - यह आधुनिक युग का ही सत्य नहीं है, बल्कि मानव जाति के समूचे इतिहास का यही निष्कर्ष है। आदिम युग से ही मनुष्य भयंकर वन्य प्रकृति से संघर्ष करता हुआ, उसे अपने अनुकूल बनाकर उसके सौन्दर्य का उद्घाटन करता चला आ रहा है।"<sup>4</sup>

छायावाद में प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध ही नहीं बदला, नयी शिक्षा के परिणामस्वरूप नारी और पुरुष का सम्बन्ध भी बदल गया। "साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छन्द प्रेम का अभ्युदय हुआ। यह स्वच्छन्द प्रेम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ही अनिवार्य परिणाम तथा उसका आवश्यक अंग है। इसके फलस्वरूप पहली बार छायावादी कविता में नारी को प्रेयसी का ऊँची स्थान प्राप्त हुआ।"<sup>5</sup> छायावाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना का परिणाम था और उस भावना का सम्बन्ध स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से था, इसका स्पष्ट प्रमाण वे छायावादी कविताएँ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप में सामाजिक संघर्ष और राष्ट्रीय-मुक्ति-चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। डॉ० नामवरजी के शब्दों

1. छायावाद, पृष्ठ १५.
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ५५.
3. छायावाद, पृष्ठ ३२.
4. छायावाद, पृष्ठ ३३.
5. छायावाद, पृष्ठ ४६.

में, "बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के नेतृत्व में भारतीय जनता ने अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष किया उसके कई पहलुओं को छायावाद ने सचाई के साथ प्रतिबिम्बित किया और यथाशक्ति उसे आगे बढ़ाने में भी योग दिया।"<sup>१</sup> अंग्रेजी में कल्पना की रोमांटिक कविता की सबसे बड़ी विशेषता बतलाया गया है। छायावादी कविता की कल्पनाशीलता भावुकताजनित थी और उस भावुकता को जन्म दिया था मानसिक स्वाधीनता ने। "छायावाद में जो 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' व्यक्त हुआ है। और प्रकृति तथा नारी सौन्दर्य की जो सूक्ष्म रेखाएँ चित्रित हुई, उन सबका श्रेय इसी स्वच्छन्द कल्पना को है।"<sup>२</sup> इस कल्पना ने छायावादी कविता के रूप-विन्यास को भी प्रभावित किया और उसे पूरा बदल दिया। यह रूप-विन्यास द्विवेदीयुगीन कविता से भी भिन्न था और रीतिकालीन कविता से भी। द्विवेदीयुगीन कविता में जहाँ सादगी थी, वहाँ यह कविता अलंकृत थी। लेकिन इसकी अलंकृत रीतिकालीन कविता से भिन्न प्रकार की थी। "रीतिकाल और छायावाद की कविता के रूप-विन्यास का अन्तः अलंकारों की बहुलता और न्यूनता का नहीं, बल्कि उन अलंकारों के पीछे काम करने वाली रूचि अथवा सौन्दर्य-भावना का है। एक के पीछे मध्ययुगीन रूचि है तो दूसरी के पीछे आधुनिक रूचि।"<sup>३</sup> छायावादी कविता में ब्रजभाषा के मुकाबले कोमलता उत्पन्न करने के लिए संस्कृत शब्दों की योजना की गयी, लेकिन ये शब्द भाव और कल्पना से रँगकर एकदम नवीन हो उठे थे। बाद में उसमें तद्भव शब्दों का प्रयोग भी होने लगा, जो कि लोकजीवन से स्वाधीनता-आन्दोलन के सम्बन्ध को देखते हुए स्वाभाविक था। इसके अलावा "छायावादी कवियों ने अलग-अलग एक-एक शब्द के संगीत पर ध्यान रखने के साथ ही सम्पूर्ण शब्द-संगति अथवा शब्द-गुम्फन के संगीत पर भी ध्यान रखा।"<sup>४</sup>

आगे डॉ० नामवरजी ने लिखा है : "छायावादी भावों ने यदि शब्दों को कल्पना से रजित और मांसल बनाया तो अपने आवेग से उन शब्दों को एक विशेष ढंग के कम, सम्बन्ध और गति में भी ढाल दिया। इस तरह छायावादी वाक्य-विन्यास में भी परिवर्तन हुआ।"<sup>५</sup> जहाँ तक छायावादी कविता के छन्दोविधान का प्रश्न है, "छायावादी कवि के जिस हृदय-स्पन्दन ने वाक्य-विन्यास को प्रभावित किया, उसी ने वाक्य-विन्यास के माध्यम से छन्द-विधान का भी निश्चय किया। छायावाद का यह हृदय-स्पन्दन मुख्यतः प्रगीत-भावना (लिरिसिज्म) थी। छायावादी छन्दों में से अधिकांश का निश्चय प्रगीत-भावना ने किया।"<sup>६</sup> डॉ० नामवरजी ने मुक्त छन्द को भी छायावादी 'स्वच्छन्द भाव की तर्कसंगत परिणति' कहा है इस ब्यौरे से यह स्पष्ट है कि छायावाद की विभिन्न प्रवृत्तियाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की जनवादी चेतना की ही अभिव्यक्ति है। डॉ० नामवरजी के शब्द लेकर कहें तो "यह एक केन्द्र पर बने हुए विभिन्न वृत्तों (Co-centric circles) का समुदाय है।"<sup>७</sup> लेकिन चूँकि छायावादी कविता मध्यवर्ग की कविता थी, इसलिए अनिवार्य रूप से उसमें अन्तर्विरोध मिलते हैं। एक ओर यदि उसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना है तो दूसरी ओर एक तरह की असामाजिकता भी; एक ओर यदि उसमें असीम की आकांक्षा है तो दूसरी ओर रहस्य-लोक में पलायन

१. छायावाद, पृष्ठ ६६.
२. छायावाद, पृष्ठ ८०.
३. छायावाद, पृष्ठ ८६.
४. छायावाद, पृष्ठ १०६.
५. छायावाद, पृष्ठ ११०.
६. छायावाद, पृष्ठ ११५.

की प्रवृत्ति भी, एक ओर यदि उसमें प्रकृति के प्रति नयी सौन्दर्य-दृष्टि है तो दूसरी ओर प्रकृतिवाद भी; एक ओर यदि उसमें नारी के प्रति समानता का भाव है तो दूसरी ओर उसे अप्सरा या देवी बना देने की चेष्टा भी; एक ओर यदि उसमें सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए संघर्ष है तो दूसरी ओर भविष्य की स्पष्ट कल्पना का अभाव भी और एक ओर यदि उसमें उच्च आदर्शों में निष्ठा है तो दूसरी ओर यथार्थविमुखता भी। इसी तरह रूप-विन्यास, शब्द-योजना, छन्दोविधान आदि में भी हम छायावादी कविता में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों प्रवृत्तियाँ पाते हैं शुक्लजी ने उसकी लाक्षणिकता का स्वागत करते हुए भी उसकी अतिशयता के लिए उसकी आलोचना की थी। १९३० ई० के बाद जब छायावाद का अन्तर्विरोध बहुत तीव्र हो गया तो "उसके गर्भ से प्रगतिवाद के नवीन जीवन्त काव्य का जन्म हुआ।" छायावाद के सकारात्मक तत्वों को रेखांकित करते हुए डॉ० नामवरजी कहते हैं : "छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं, उसकी आत्मीयता में; काल्पनिक उड़ान में नहीं, आत्म-प्रसार में है; समाज भीरुता में नहीं, प्रकृति-प्रेम में है; प्रकृति-पलायन में नहीं, नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में है; आवेगपूर्ण भावोच्छ्वास में नहीं, संवेदनशीलता में है; सौन्दर्य की कल्पना में नहीं, सौन्दर्य की भावना में है; स्वप्न में नहीं, स्वप्न की वास्तविक आकांक्षा में है; अज्ञात की जिज्ञासा में नहीं, ज्ञान के प्रसार में है; आदर्श में नहीं, यथार्थ में है; कल्पना में नहीं, वास्तविकता में है; दृष्टिकोण में नहीं, दृष्टि में है; उक्ति-वैचित्र्य में नहीं, अभिव्यजना के प्रसार में है।"<sup>१</sup>

'छायावाद' में डॉ० नामवरजी ने छायावाद की सामान्य प्रवृत्तियों तो दिखलायी ही है, छायावाद के प्रमुख चारों कवियों - प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी - की विशिष्टताओं पर भी प्रकाश डाला है। यहाँ यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि छायावाद की ठीक-ठीक व्याख्या वहीं क्यों कर सके, जबकि छायावाद के अपने आलोचक पं० नंददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र थे? इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि मार्क्सवाद की समाजशास्त्रीय और द्वन्द्वात्मक दृष्टि केवल डॉ० नामवरजी के पास है। स्वभावतः उन्होंने सामाजिक विकास-क्रम में छायावाद को ठीक-ठीक देखकर उसके सकारात्मक और नकारात्मक, प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों पक्षों को पहचाना। इसी से उन्होंने छायावाद को न मात्र द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया माना, न परवर्ती काव्य-विकास की छायावाद की प्रगतिशील विरासत से वंचित करने के प्रयास को अनदेखा किया। उनका यह कथन ध्यातव्य है कि "छायावाद द्विवेदी-युग का ऐतिहासिक विकास है और इस प्रकार छायावाद हिन्दी साहित्य की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।"<sup>२</sup> इधर डॉ० रामविलास शर्मा ने द्विवेदी-युग और छायावाद के अन्तस्सम्बन्ध की ओर संकेत किया है। ('महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण'), उसमें इस विचार की पुष्टि हुई है। 'छायावाद' निश्चय ही अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टिवाले मार्क्सवादी आलोचक की कृति है जिसमें हमें छायावादी कविता का गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण देखने को मिलता है। डॉ० नामवरजी ने छायावादी काव्यवस्तु और काव्यरूप दोनों का सापेक्ष रूप में पूर्णतर विश्लेषण

१. छायावाद, पृष्ठ १४५-४६।

२. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ४६।

तो किया ही है, उसका सामाजिक मूल्यांकन भी किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि छायावाद के बाद हिन्दी कविता का विकास प्रगति और प्रयोग की दिशा में हुआ। रघुवंशजी जैसे आलोचक प्रगतिवादी कविता की यथार्थवादी कविता नहीं मानते। उनका यह कथन हम देख चुके हैं : “प्रगतिवादी कविता ‘कुत्सित समाज-शास्त्री आलोचकों’ के प्रभाव से वर्ग-संघर्ष तथा सामाजिक क्रांति का अयथार्थ स्वर भरती रही है। अधिकतर प्रगतिवादी कवि अपने देश के सामाजिक यथा १ से अपरिचित रहकर रूस तथा चीन की सामाजिक क्रांति के गीत गाते रहे हैं।” इसके विपरीत “प्रयोगशील और बाद में नया कहलाने वाले साहित्य, के बारे में उनकी यह राय है कि “इसने अपने युग-जीवन के संपूर्ण यथार्थ को ग्रहण किया।” डॉ० नामवरजी का मत उसमें एकदम भिन्न है। उन्होंने छायावाद के बाद के साहित्य में यथार्थवाद के विकास की दृष्टि से प्रगतिवादी धारा को सर्वाधिक महत्व दिया है : “प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च-विचार के निरंतर विकास का इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरंभ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद अथवा नग्नयथार्थवाद से आरम्भ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।”<sup>१</sup> उनके अनुसार, “ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर छायावाद की समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढाव है।”<sup>२</sup> उन्होंने प्रयोगवाद के विचार-धारा-विरोध को चिह्नित किया है और कहा है : “प्रयोगशील जीवन-दृष्टि की दूसरी विशेषता है सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण। जहाँ किसी पूर्व-निश्चित ‘वाद’ से बचने की कोशिश है वहाँ सत्य का निरंतर अन्वेषण अनिवार्य हो जाता है और जाहिर है कि यह अन्वेषण हर एक को स्वयं करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रयोगशीलता ‘व्यक्तिगत अन्वेषण’ की वस्तु है।”<sup>३</sup> ‘व्यक्तिगत अन्वेषण’ का मतलब है बुद्धि का निषेध और अनुभव का भरोसा। डॉ० नामवरजी ने आगे कहा है : “विचित्र बात है कि विज्ञान के साथ संबद्ध देखकर प्रयोग की कविता के क्षेत्र में ‘बौद्धिकता’ का आंदोलन कहना शुरू किया गया, जबकि वास्तविकता यह है कि प्रयोगशीलता नितान्त अनुभवपरक जीवन-दृष्टि है।”<sup>४</sup> कोई ताज्जुब नहीं कि जिस तरह ‘व्यक्तिगत अन्वेषण’ की परिणति अनुभवपरकता में हुई उसी तरह अनुभवपरकता की परिणति क्षणवाद में। “आगे चलकर जो क्षणवादी विचारों की व्यापक उद्घोषणाएँ हुई, उन्हें आरंभिक प्रयोगशील जीवन-दृष्टि का ही बढाव समझना चाहिए।”<sup>५</sup>

‘कविता के नये प्रतिमान’ (१९६८) में डॉ० नामवरजी ने छायावादी भाव-धारा के स्थान पर यथार्थवादी कविता के रूप में नयी कविता को स्थापित करने का प्रयास किया है। यह नयी कविता प्रयोगवादी कविता तक ही सीमित नहीं है। इस पुस्तक में उन्होंने ‘नयी कविता’ को एक व्यापक संज्ञा मानकर प्रगति और प्रयोग उसकी दो प्रवृत्तियाँ मानी है। डॉ० रामविलास शर्मा ने भी नयी कविता में प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी, अकवितावादी आदि सभी

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ८६-८७.

२. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १३०.

३. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १३२.

४. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १३२.

५. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १३४.

कविताओं को समेटा है।<sup>१</sup> इसी तरह प्रो० चंद्रबली सिंह भी नयी कविता की दो मुख्य धाराएँ मानते हैं – पुनर्रचनावादी और विघटनवादी।<sup>२</sup> नयी कविता में प्रगति और प्रयोग की दोनों प्रवृत्तियों को समाविष्ट करने का एक अन्य आधार भी है। वह यह कि हिन्दी में नये साहित्य के पीछे अंग्रेजी के जिस 'न्यू राइटिंग' आन्दोलन की प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा थी उसमें भी प्रगतिशील और प्रयोगवादी दोनों प्रकार के रचनाकार सम्मिलित थे। डॉ० नामवरजी ने 'प्रतिमान' में लिखा है: "नयी कविता से आशय प्रगति और प्रयोग दोनों के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई समग्र नयी काव्यधारा से है।"<sup>३</sup> यहाँ 'कल्पित' से मतलब यह नहीं है कि नयी कविता में इन दो धाराओं का अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि यह है कि उनका पार्थक्य आत्यंतिक नहीं है। छायावादोत्तर काल में एक तरह की यथार्थवादी कविता, सीमित और आत्मनिष्ठ दृष्टि से ही सही, प्रयोगवादी कवियों ने भी लिखी। डॉ० नामवरजी के अनुसार छायावादोत्तर काल में हिन्दी कविता में यथार्थवाद का जो विकास आरम्भ हुआ उसका श्रेय प्रगतिवाद को है। १९३६-३७ के काल के बारे में उनका कहना है: "इसी दौर में प्रगतिशील साहित्य का आंदोलन पैदा हुआ, जिसका जोर सबसे ज्यादा यथार्थवाद पर था। प्रगतिशील साहित्य की इस यथार्थवादी भूमिका की उपेक्षा करके १९३८ के संक्रमण-युग को समझना असम्भव है। तथ्य है कि हिन्दी कविता को उस समय जो कवि नया मोड़ देने का प्रयास कर रहे थे, वे चाहे 'तार-सप्तक' में संकलित हुए हों या उससे बाहर रहे हों, सभी किसी-न-किसी रूप में उस प्रगतिशील चेतना से अपने आपको सम्भव हों, सभी किसी-न-किसी रूप में उस प्रगतिशील चेतना से अपने आपको सम्बद्ध अनुभव करते थे। उल्लेखनीय है कि स्वयं 'तार-सप्तक' की योजना भी दिल्ली के जिस 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' (१९४२) के दौरान बनी वह वस्तुतः 'प्रगतिशील लेखक संघ' का ही आयोजन था।"<sup>४</sup> प्रगतिवादी कविता की यह यथार्थवादी धारा क्या परवर्ती काल में लुप्त हो गयी? 'प्रतिमान' का महत्व इस बात में है कि उसमें उक्त धारा को, जो प्रयोगवादी घुम्ब में थोड़ी देर के लिए ओघल हो गयी थी, आँखों के सामने ला दिया गया है।

छायावादोत्तर कविता का मुख्य स्वर यथार्थवादी है, लेकिन ऐसा नहीं है कि स्वच्छन्दतावादी तत्व उसमें से एकदम समाप्त हो गये थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद कविता में स्वच्छन्दतावाद का नवोत्थान हुआ। 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय ने 'व्यक्ति-सत्य' को 'वस्तु-सत्य' की दिशा में विस्तृत करने की अपेक्षा रागात्मकता के द्वारा 'तथ्य' को 'सत्य' बनाने वाला जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, उसके बारे में डॉ० नामवरजी ने लिखा है: "अज्ञेय के इस काव्य-सिद्धान्त की नवीनता यह है कि इसमें बड़े कौशल से 'तार-सप्तक' की परम्परा को आत्मनिष्ठ मोड़ दे दिया गया। 'वस्तु-सत्य' निःशेष हो गया 'तथ्य' में और फिर वह 'तथ्य' भी 'रागात्मकता' के अधीन होकर अपनी रही-सही वस्तु-निष्ठता खो बैठा। अन्वेषण की जो राह बाहर की ओर जा रही थी वह सहसा अन्दर की ओर मुड़ गयी।"<sup>५</sup> स्वच्छन्दतावाद के इस नवोत्थान का कारण था देश में पूँजीवादी जनतान्त्रिक शासन की सुस्थिरता और उसके चरित्र

१. नई कविता और अस्तित्ववाद, पृष्ठ १२२.
२. माया, भारत १९६५ विशेषांक।
३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ६७.
४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ६०.
५. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ६५.



के सम्बन्ध में व्यापक भ्रम। "इस वातावरण में जो भी विसंवादी स्वर निकला अपने आप डूब गया। सृजनशीलता का जादू ऐसा चला कि किसी भी प्रकार के 'आलोचनात्मक' स्वर के लिए गुंजाइश न रही। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन ही नहीं मुक्तिबोध की आवाज भी इस 'सृजन-क्षण' में डूब गयी।"<sup>1</sup> लेकिन व्यवस्था के प्रति यह भ्रम अधिक दिनों तक बना नहीं रह सका और पूँजीवाद का अन्तर्विरोध तेजी से उभरकर सामने आने लगा। डॉ० नामवरजी ने मुक्तिबोध का महत्व स्थापन करते हुए कहा है : "इस युग का श्रेष्ठ एवं सार्थक कृतित्व वह है जो इस 'भ्रम' से कम से कम ग्रस्त था अथवा एकदम मुक्त था। तात्कालिक वातावरण में उस कृतित्व का महत्व भले दबा रह गया हो, किन्तु इतिहास के न्याय से बचना असम्भव है। मुक्तिबोध के कृतित्व का महत्व इसी भ्रम-मुक्ति में है, जैसा कि बाद के पुनराविष्कार से प्रमाणित हुआ, मुक्तिबोध भ्रम के इस लम्बे दौर में सतत जाग्रत रहे।"<sup>2</sup>

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मुक्तिबोध में स्वच्छंदतावादी तत्व नहीं हैं? इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि डॉ० नामवरजी रघुवंशजी की तरह भावुकता या रोमानीपन-मात्र के विरोधी नहीं हैं। रघुवंशजी के मत से भावुक कवि तटस्थ और वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकता, जिसे सम्पूर्ण प्रगतिशील कविता मिथ्या सिद्ध करती है। वह एक हद तक बौद्धिकता पर बल देती है, पर भावुकता का पूरा निषेध नहीं करती। डॉ० नामवरजी ने पहले ही प्रयोगवादी अतिशय बौद्धिकता की आलोचना करते हुए कहा था : "यथार्थ के आग्रह से कोरी भावुकता और सरलता को छोड़ना एक बात है लेकिन भाव-प्रवणता को एकदम तिलांजलि देकर हर समय शुष्क बौद्धिक व्यायाम करते रहना बिल्कुल दूसरी बात है - इससे यथार्थ-दर्शन की जगह एक दूसरे प्रकार की अवास्तविकता की सृष्टि होती है।"<sup>3</sup> इस प्रकार उन्होंने रोमानीपन का विरोध वहीं किया है, जहाँ वह यथार्थदृष्टि की धुंधला बनाता है। मुक्तिबोध की सर्वाधिक प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' जो एक आशा से भरा हुआ स्वप्न है, उसके बारे में उन्होंने कहा है : "कहने की आवश्यकता नहीं कि 'अँधेरे में' जो रोमांटिक स्वप्न है उसका आधार अपने युग में विकासमान उत्थानशील शक्तियों का बोध है। ....इस दृष्टि से मुक्तिबोध को रोमांटिक भी कहा जा सकता है। किन्तु यह रोमांटिकता गोर्की के शब्दों में 'कान्तिकारी रोमांटिकता' या 'वीरत्व-व्यंजक रोमांटिकता' है।"<sup>4</sup>

'प्रतिमान' में डॉ० नामवरजी ने कविता के जिन नये प्रतिमानों को रेखांकित किया है, वे यथार्थवादी कविता के प्रतिमान हैं। इन प्रतिमानों पर उन्होंने प्रगतिवादी और प्रयोगवादी इन दोनों धाराओं के कवियों की परीक्षा की है और उसमें प्रायः सर्वत्र प्रगतिवादी कवियों को खरा तथा प्रयोगवादी कवियों को खोटा पाया है। उन्होंने लिखा है : "कविता के नये प्रतिमान के केंद्र में मुक्तिबोध है। ....इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य-मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता

- 
१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ६६.
  २. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ६७.
  ३. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १५४.
  ४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २६७-६८.

को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव हो सका।<sup>१</sup> मुक्तिबोध के अलावा उन्होंने नागार्जुन और त्रिलोचन को भी यथास्थान उद्धृत किया है और प्रयोगवादी कविता से उनकी कविता की श्रेष्ठता दिखलायी है। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा के बारे में डॉ० नामवरजी ने कहा है : "इसमें एक रीतिबद्ध भाषा की चमक लालित्य, प्रसन्नता आदि गुण भले ही न हों, किन्तु वह प्राणशक्ति असंदिग्ध है जो सृजनशीलता की अनिवार्य शर्त है। भाषा की इस प्राणशक्ति का संघर्ष भाषा के नाटकीय प्रयोग से है और कहना न होगा कि मुक्तिबोध की प्राणवान काव्य-भाषा उनके प्राणवान कथ्य की प्रतिध्वनि है।"<sup>२</sup> एक ओर मुक्तिबोध की 'चंबल की घाटी में' और 'अंधेरे में' जैसी कविताएँ हैं और दूसरी ओर अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' जैसी कविता। डॉ० नामवर जी कहते हैं : "असाध्य वीणा' की भाषा में आश्चर्यजनक रूप से छायावाद और रीतिवाद जैसे दो विरोधी छोर एक बिन्दु पर मिलते दिखायी पड़ते हैं। कहना न होगा कि एक ही निष्प्राण चेतना भाषा से लेकर भाव के स्तर तक—कथन से कथ्य तक आद्योपात् व्याप्त है। भाषा की यह अशक्यता नैतिक अशक्यता का पर्याय है। इस प्रकार 'असाध्य वीणा,' का मौन अपनी सारी वर्णन—चातुरी, नाटकीयता और शब्द—प्रयोग—सम्बन्धी सतर्कता के बावजूद आधुनिक परिवेश के साथ एक समझौते का सूचक है।"<sup>३</sup>

'सपाटबयानी' के प्रतिमान पर उन्होंने केदारनाथ सिंह और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताओं का विश्लेषण कर दिखलाया है कि नयी कविता का प्रयोगवादी धड़ा बिम्बवाद के प्रभाव में कविता में बिम्बों को आवश्यकता से अधिक महत्व देता रहा है और उनका संयोजन भी कविता में कुशलता से नहीं कर सकता है। इसके विपरीत नागार्जुन और त्रिलोचन की ओर संकेत कर उन्होंने कहा है : "जहाँ तक मूर्तिमत्ता का प्रश्न है, वह तथाकथित 'बिम्बवादी' काव्य—सिद्धान्त को अपनाये बिना भी सम्भव है, जैसा कि कुछ प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों की सफल काव्य—कृतियों में दिखायी पड़ता है।"<sup>४</sup> जैसा कि हम देख चुके हैं, डॉ० नामवरजी ने प्रगीतात्मक काव्य—संरचना की अपेक्षा नाटकीय काव्य—संरचना की यथार्थवाद के अधिक अनुकूल माना है। यह नाटकीय काव्य—संरचना वैसी लम्बी कविताओं में देखने को मिलती है, जैसी लम्बी कविताएँ मुक्तिबोध ने लिखी हैं। अज्ञेय—जैसे कवियों की 'असाध्य वीणा' जैसी कविताएँ लम्बी होने के बावजूद संरचना की दृष्टि से वर्तुलाकार हैं, जो कि आत्मपरक कविताओं की विशेषता है। विसंगति और विडम्बना एक प्रकार की यथार्थवादी कविता का निश्चित प्रतिमान है। प्रयोगवादी कवियों की कविताओं में जहाँ विसंगति और विडम्बना 'सिनिसिज्म' का पर्याय हो जाती है, वहाँ प्रगतिवादी कवि इस बात में विश्वास करते हैं कि "बुद्धि के हाथों इस स्थिति पर काबू भी पाया जा सकता है।" "मुक्तिबोध की 'चंबल घाटी में' और 'अंधेरे में' जैसी भयावह त्रासदीय रंग की नाटकीय कविताओं के अन्तर्गत काले बादलों को चीरकर बिजली की कौंध के समान हल्के—फुल्के संक्षिप्त प्रसंग झलक जाते हैं, जिनसे विडम्बना के सर्जनात्मक उपयोग का

१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १०.
२. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ ११८-११९.
३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १२०.
४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १३०.

गहरा एहसास होता है।<sup>१</sup> अनुभूति के द्वन्द्वजनित तनाव की कसौटी पर भी मुक्तिबोध ही खरे उतरते हैं, अज्ञेय—जैसे कवि नहीं, जबकि 'तनाव' को उन्होंने भी महत्व दिया है। लेकिन "अज्ञेय की दृष्टि में जहाँ मानसिक तनाव" प्रमुख है, वहाँ "मुक्तिबोध का तनाव दुहरा है : एक ओर अपने परिवेश के साथ, दूसरी ओर स्वयं अपने अंदर। किन्तु अन्ततः ये दोनों तनाव परस्पर-सम्बद्ध हैं।"<sup>२</sup> डॉ० नामवरजी के अनुसार इन दोनों कवियों की कविताओं में तनाव-सम्बन्धी इन दोनों दृष्टियों की परिणति दो रूपों में हुई है। मुक्तिबोध की कविताओं में "आज के परिवेश की जो दहशत—भरी तस्वीर उभरती है उससे स्नायु—तन्तुओं के टूटने या रक्तचाप बढ़ने का खतरा पैदा हो सकता है"<sup>३</sup> जबकि "अज्ञेय की इधर की रचनाओं में भाषा—भाव से लेकर लय, स्वर और संरचना सभी स्तरों से उस तनाव का लोप हो गया है। तनाव का स्थान ले लिया है एक थकान—भरी शान्त मुद्रा ने।"<sup>४</sup>

जहाँ तक ईमानदारी की बात है, वह प्रगतिशील कवियों में ही मिलती है, प्रयोगवादी कवियों में नहीं। प्रयोगवादी कवि तो ईमानदारी को वस्तुनिष्ठता से मुक्त कर अनुभूति की प्रामाणिकता का रूप देने में लगे रहे। परिवेश की वास्तविकता के चित्रण को डॉ० नामवर जी ने कविता का अन्तिम नया प्रतिमान कहा है। इस दृष्टि से उन्होंने मुक्ति-बोध के काव्य—संसार की तुलना रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा जैसे कवियों के काव्य—संसार से की है और मुक्ति-बोध की उस इतिहास—बोध से युक्त बतलाया है, जिसका रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा में अभाव है। इसकी चर्चा प्रसंगवश ऊपर हो चुकी है। साही के बारे में उन्होंने कहा है : "विजयदेव नारायणसाही का काव्य—संसार अपनी ऐन्द्रजालिकता में मुक्तिबोध के समान होते हुए भी वास्तविकता के गर्दगुवार से काफी दूर तथा अधिक निजी और स्वतः सम्पूर्ण है।"<sup>५</sup> यहाँ यह ज्ञातव्य है कि डॉ० नामवरजी ने छायावादोत्तर हिन्दी कविता में यथार्थवाद का निरूपण करने के क्रम में अपनी दृष्टि प्रगतिवादी कविता तक ही सीमित नहीं रखी है, बल्कि प्रयोगवादी कविता में चित्रित यथार्थ पर भी विचार किया है और उसकी सीमाओं को समझते हुए उसे यथोचित महत्व दिया है। लूकाच ने अपनी पुस्तक 'द मीनिंग ऑव कंटेपररी रियलिज्म' में पूँजीवादी यथार्थवाद के दो प्रकार बतलाये हैं : आलोचनात्मक और आधुनिकतावादी। प्रयोगवादी कविता में आलोचनात्मक यथार्थवाद के तत्व प्रचुर मात्रा में हैं। मार्क्सवादी आलोचक के लिए उन पर दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक था। डॉ० नामवरजी ने उसी क्रम में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और साही की कविताएँ उद्धृत कर उनका विश्लेषण किया है और उनके सकारात्मक पक्षों को उजागर किया है। यह उनका उदारतावाद नहीं, बल्कि उनकी संकीर्णता से मुक्त आलोचना—दृष्टि का प्रमाण है।

छठे दशक के बाद हिन्दी में जो कविता लिखी गयी वह 'युवा कविता' के नाम से जानी जाती है। यह 'मोहभंग' या फिर 'मोहविहीनता' की कविता है। तात्पर्य यह है कि छठे दशक में नयी कविता में जो स्वच्छन्दतावाद का नवोत्थान दिखलायी पड़ा था, यह कविता प्रकटतः उसके विरुद्ध यथार्थवाद की दिशा में कदम बढ़ाती है। डॉ० नामवरजी ने

- 
१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १७४.
  २. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १६३.
  ३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १६२.
  ४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १६४.
  ५. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३९.

इस कविता पर भी टिप्पणी की है। उनके अनुसार इस कविता के भी दो रूप हैं। उसका एक रूप वामपंथी झुकाववाला है और दूसरा नकारवादी झुकाववाला। नकारवादी झुकाव अकविता और अमरीकी बीट कविता के प्रभाव में लिखी गई कविता में देखने को मिलता और वामपंथी झुकाव वामपंथी राजनीति से प्रभावित कविता में। इन दोनों प्रकार की कविताओं के मूल में पूँजीवादी व्यवस्था और उसका बढ़ता हुआ प्रभाव ही है। नकारवादी झुकाववाले कवि तो मध्यवर्ग से आने वाले कवि हैं ही, डॉ० नामवरजी के मत से वामपंथी झुकाव वाले कवि भी मध्यवर्ग से ही आने वाले कवि हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस दौर की वामपंथी कविता मध्यवर्गीय या निम्न-पूँजीवादी मनोवृत्तियों की शिकार है। मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते डॉ० नामवरजी ने इस कविता की उसकी त्रुटियों से मुक्त करने की दिशा में सार्थक प्रयत्न किया है। उन्होंने इस कविता के रचयिताओं को लेनिन की पुस्तक 'उग्रपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज' की याद दिलायी है और वामपंथी भटकावों से मुक्त होकर मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है। उन्होंने ये दोनों ही बातें लिखी हैं : "निर्विकल्प विरोध की राजनीति.....राजनीतिक जीवन में अराजकता को जन्म देती है"<sup>१</sup> और "एक अदूरदर्शी जीवन-दृष्टि साहित्य को भी ज्यादा दूर नहीं ले जा सकती।"<sup>२</sup> पहली बात अकारवादी झुकाववाले कवियों के प्रसंग में कही गयी है और दूसरी बात उग्र वामपंथी कवियों के प्रसंग में। इसके अलावा डॉ० नामवरजी ने यह भी कहा है कि ये दोनों प्रकार के कवि भी मूल में रोमानीपन के शिकार रहे हैं - पहले प्रकार के कवि पतनशील रोमांटिसिज्म के और दूसरे प्रकार के कवि "क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म" के। निम्न-पूँजीवादी मनोवृत्ति से ग्रस्त उग्रवामपंथी कवियों के 'क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म' की तुलना मुक्तिबोध के क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म से नहीं की जा सकती, क्योंकि मुक्तिबोध का रोमांटिसिज्म सामाजिक यथार्थ के गहरे बोध से सम्पृक्त है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, डॉ० नामवरजी ने कविता के साथ-साथ कहानी में भी दिलचस्पी दिखलायी है। नयी कविता की तरह ही उन्होंने नयी कहानी पर भी आलोचनात्मक ढंग से विचार किया है, जिसका प्रमाण 'कहानी: नयी कहानी' (१९६६) नामक पुस्तक में संकलित समय-समय पर लिखे गये उनके निबन्ध और टिप्पणियाँ हैं। हिन्दी में नयी कहानी 'दूसरा सप्तक' (१९५१) से आरम्भ होने वाली नयी कविता के कुछ बाद आरम्भ हुई। सन्दर्भ बहुत कुछ नयी कवितावाला ही था, यानी 'प्रगति की आशा' बँधाने वाला स्वातन्त्र्योत्तर भारत, लेकिन नयी कहानी में यथार्थ की चेतना अपेक्षाकृत अधिक थी। डॉ० नामवर जी ने लिखा है: "धीरज का बौध अभी एकदम न टूटा था। पीड़ा-भरी प्रतीक्षा इस काल की कहानियों का मुख्य स्वर है....। वैसे, कोई चाहे तो इस भाव-बोध को भी रोमांटिक कह सकता है, किन्तु इनमें जीवन का जो गहरा पीड़ा-बोध है वह हर तरह की तीव्र रोमांटिक भावनाओं से सर्वथा भिन्न है।"<sup>३</sup> नयी कहानी की यथार्थ-चेतना ने स्वभावतः नयी कहानी के रूप को परम्परागत कहानी से भिन्न कर दिया। उन्होंने

१. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, १९६८.  
 २. आलोचना, अप्रैल-जून, १९७०.  
 ३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २२७.

काफी पहले इसे लक्ष्य किया था। “कहानी में जो चीज पहले कथानक नाम से जानी जाती थी। उसमें कही न कही कोई परिवर्तन हुआ है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कथानक की धारणा (कंसेप्ट) बदल गयी है। किसी समय मनोरंजक, नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन को ही कथानक समझा जाता था और आज घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में ‘कथानक’ नाम की चीज मिलती ही नहीं। इसी को कुछ लोग ‘कथानक का ह्रास’ कहते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि ह्रास ‘कथानक’ का नहीं, बल्कि ‘कथा’ का हुआ है और जीवन का एक लघु प्रसंग, प्रसंग-खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया है, अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गयी है। जो छोटी-सी बात पुराने कहानीकारों के लिए अपर्याप्त थी, उसी को नये कहानीकारों ने कहानी के लिए पर्याप्त मान लिया है और फिर उसके भीतर से उन्होंने कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्तों का विकास किया है।”<sup>१</sup> आगे भी उन्होंने चढ़ाव-उतारवाले कथानक की ओर संकेत करते हुए कहा है : “पाठक को अपनी ओर खींचने का यह पुराना साधन हाथ से निकलते ही कहानीकार ने अन्य साधनों की खोज की। कभी उसने अत्यन्त मार्मिक प्रसंग-खंड की संवेदनीयता का सहारा लिया, तो कभी किसी झकझोर देने वाले विचार-स्फुरित का। इस तरह नये कहानीकार ने अपने अभीष्ट विचार की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रभावशाली तथा साभिप्राय घटना-प्रसंग का उपयोग किया, जिसकी सारी शक्ति आद्योपात्त व्याप्त उद्देश्य में है। ऐसी कहानियों में अंत तक जाते-जाते संपूर्ण कथानक एक सारगर्भी विचार के रूप में झंकृत हो उठता है।”<sup>२</sup> नयी कहानी की एक विशेषता डॉ० नामवरजी ने सांकेतिकता बतलायी है। उनके शब्दों में, “प्रभावान्विति” कहानी में उतनी पुरानी है जितनी स्वयं आधुनिक कहानी। किन्तु प्रभाव की संपूर्ण अन्विति को सांकेतिक बनाने का श्रेय एकदम नयी कहानी को है। नयी कहानी संकेत करती नहीं है, बल्कि संकेत है।”<sup>३</sup> ऐसी सांकेतिकता नयी कहानी में वातावरण-निर्माण द्वारा सम्भव है : “अभीष्ट विचार या भाव को सांकेतिकता प्रदान करने के लिए नये कथाकारों ने प्रायः कथानक और चरित्र के स्थूल उपादानों से ध्यान हटाकर ‘वातावरण’ पर दृष्टि केन्द्रित की है। ‘वातावरण’ शब्द काफी व्यापक है : इससे प्रकृति का भी बोध हो सकता है और शहर, कस्बा, गाँव वगैरह के भीतरी जीवन का भी। पिछली पीढ़ी के कहानीकार वातावरण का चित्रण कभी कहानी को सजाने के लिए करते थे तो कभी यथार्थ का रंग देने के लिए। किन्तु नयी कहानी वातावरण अलंकरण-मात्र नहीं है बल्कि अन्तःकरण है।”<sup>४</sup>

लेकिन नयी कहानी की वस्तु और रूप-सम्बन्धी विशेषताओं का निर्देश करते हुए डॉ० नामवरजी ने उसकी सीमाओं को नहीं भुलाया और नयी कहानी के आरम्भ से लेकर अन्त तक वे उनकी ओर भी स्पष्ट शब्दों में संकेत करते रहे। आंचलिक कहानियों के पहले दौर में ही उन्होंने लिखा था : “इन किशोर कहानीकारों के पास एक ही चीज की कमी है और वह है पैनी सामाजिक दृष्टि। लोकजीवन का मुग्ध चित्रण अपने-आप में कोई बहुत ऊँची

१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २०-२१.

२. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २२.

३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ४२.

४. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ४२-४३.

चीज नहीं है और न साध्य ही। इस सामग्री के आधार पर जागरूक पाठकों का मन ज्यादा देर तक बहलाया नहीं जा सकता।<sup>१</sup> बाद में उन्होंने राजेन्द्र यादव की कहानी 'छोटे-छोटे ताजमहल' के विश्लेषण द्वारा नयी कहानी की उस प्रवृत्ति की आलोचना की, जिसमें यथार्थ को जटिल रूप में नहीं, बल्कि भावुकतापूर्ण ढंग से सतही रूप में चित्रित किया जाता था। उक्त कहानी के संबंध में उन्होंने कहा है। "कहानी से स्पष्ट है कि उसके चरित्र सम्बन्ध टूटने की कल्पना या घटना से इतने अभिभूत है कि उस पर भावुकतापूर्ण ढंग से सोचने लगते हैं; वे एक दुखद घटना के 'प्रभाव' में जी रहे हैं, 'कारण' में जाने की क्षमता नहीं है।"<sup>२</sup> डॉ० नामवरजी का स्पष्ट मत है कि "कहानी को व्यापकता तब मिलती है जब एक व्यक्ति की अनुभूति को 'समस्या' के रूप में उपस्थित किया जाता है और समस्या का वस्तुगत सामाजिक कारण बताया जाता है - चाहे यह कारण नितान्त सांकेतिक ही क्यों न हो।"<sup>३</sup> इसका संबंध कहानीकार के ऐतिहासिक परिवेश-बोध और उससे निर्मित दृष्टि-बिन्दु से है। १९५७ में डॉ० नामवर जी ने कहा था : "प्रश्न यथार्थ-खंड को घेरने वाले व्यापक परिवेश की ओर संकेत करने का भी है। स्वीकार करना चाहिए कि इन कहानीकारों को छोटी-छोटी अनुभूतियों के चित्रण में जितनी उपलब्धि हुई है, उतनी ऐतिहासिक परिवेश की दिशा में नहीं (हुई) है। इस परिवेश-बोध के ही अभाव में कभी-कभी कथागत संवेदनाएँ नितान्त काल्पनिक प्रतीत होने लगती हैं और किसी महत्वपूर्ण बात की कमी से कहानी का समस्त रूपाकार शिल्प-चमत्कार होकर रह जाता है।"<sup>४</sup> १९६५ में, जबकि नयी कहानी का दौर समाप्त हो चुका था, वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे : "जिस अनुभववाद के सहारे इस पीढ़ी ने पुरानी प्रतिष्ठाओं के विरुद्ध विद्रोह किया, वह ज्यादा आगे ले जाने की क्षमता नहीं रखता। एक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के बिना कोरा 'अनुभववाद' जल्दी ही कुठित होकर वस्तु-स्थिति से समझौता करने के लिए लाचार हो जाता है।"<sup>५</sup>

ऐतिहासिक परिदृश्य-बोध के अभाव में ही नयी कहानी का विकास न हो सका। नयी कहानी के प्रमुख रचनाकारों को लक्ष्य करके डॉ० नामवरजी ने कहा है : "आज हिन्दी कहानी की दुनिया में 'सामाजिकता' का सबसे ऊँचा शोर मचाने वाले इसी 'पर्सपेक्टिव' की पहचान के अभाव से ग्रस्त है। इसीलिए वे कभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभव-तन्तुओं का लम्बा जाल बुनकर रह जाते हैं और कभी आधुनिक सभ्यता के स्थूल उपकरणों का ब्यौरेवार सूचीपत्र प्रकाशित करके अपने कृतित्व की इतिश्री समझ लेते हैं। कमलेश्वर की नयी दिल्ली-सीरीजवाली नयी कहानियाँ, राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियाँ और राकेश की 'ग्लासटेक', 'फौलाद का आकाश', 'सेपटीपिन' आदि कहानियाँ इसी प्रकार के 'नेचुरलिज्म' अथवा 'तथ्यवाद' की कोटि में आती हैं।"<sup>६</sup> लेकिन इन बातों का यह मतलब नहीं है कि डॉ० नामवरजी ने जिस नयी कहानी की वस्तु और रूप के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ गिनायी हैं, अन्ततः उसे उन्होंने रद्द कर दिया है। नयी कहानी के उनके मूल्यांकन का निचोड़ यह है : "चूँकि ज्यादातर

१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २२-२३.
२. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १६०.
३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ १६०.
४. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ५६-६०.
५. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३४.
६. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २३६-३७.

लेखक शहरों और गाँवों के निम्न-मध्यवर्ग की उपज है और हर लेखक का जोर साहित्य-रचना में निजी अनुभव पर है, इसलिए रचनाओं की विषय-वस्तु के साथ ही दृष्टिकोण का भी निम्न-मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति की सीमा से सीमित हो जाना अनिवार्य है। वैसे, आज समाज में इस वर्ग की जो स्थिति और ऐतिहासिक भूमिका है, उसका देखते हुए इस वर्ग का सचेत लेखक प्रखर 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' साहित्य की सृष्टि कर सकता है। कहना न होगा कि नयी कहानी की परम्परा में सामाजिक आलोचना का स्वर काफी प्रबल रहा है।<sup>१</sup>

कुछ लोगों ने डॉ० नामवरजी की कहानी-सम्बन्धी आलोचना की यह कहकर आलोचना की है कि उसमें असंगति है और उन्होंने कहानी की आलोचना में भी कविता के प्रतिमानों का प्रयोग किया है। 'कहानी : नयी कहानी' में निर्मल वर्मा के कहानी-संग्रह 'परिन्दे' की समीक्षा भी संकलित है। उक्त दोनों ही बातें उसी समीक्षा को ध्यान में रखकर कही गयी है। डॉ० नामवरजी पर असंगति का आरोप यह कहकर लगाया गया है कि वे 'परिन्दे' की समीक्षा में अपनी कहानी-सम्बन्धी मान्यताओं के विपरीत चले गये हैं। उनकी मान्यताएँ ये रही हैं कि "कहानीकार की सार्थकता इस बात में है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अंतर्विरोध के संदर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है" और "जागरूक कथाकार की हर कहानी उसके सामाजिक संघर्ष की दिशा में एक कदम होती है....।" निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' नामक संग्रह की कहानियों में प्रेम, प्रेमजनित अवसाद और अकेलेपन, मध्यवर्गीय सम्बन्धों के तनाव और विघटन, संवेदन-शून्यता, निराशा आदि का चित्रण हुआ है और यह चित्रण व्यक्ति की समस्या के रूप में हुआ है, सामाजिक समस्या के रूप में नहीं। ऐसी स्थिति में डॉ० नामवरजी द्वारा उनकी कहानियों को नयी कहानी के 'आदर्श' के रूप में प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित था? इस संबंध में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि सामाजिक समस्या का चित्रण भी कहानी में व्यक्ति के माध्यम से ही सम्भव है और जैसा की लूकाच ने ही कहा है, सामान्य-चित्रण का मतलब औसत चित्रण नहीं, बल्कि समाज की क्रियाशील वस्तुनिष्ठ शक्तियों से निर्धारित चरित्र है।<sup>२</sup> निर्मल वर्मा के सारे व्यक्ति चरित्र हमारे समाज में पूँजीवाद की जो शक्तियाँ क्रियाशील हैं उन्हीं से निर्मित हैं। इस प्रकार उनका भी एक सामाजिक सन्दर्भ है। यह बात और है कि वह सन्दर्भ उनकी कहानियों में स्पष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि नामवर जी ने उनकी तारीफ की तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे सामाजिक यथार्थवादी कहानियों को छोड़कर व्यक्तिवादी और कलावादी कहानियों की तारीफ करने लगे। अपनी समीक्षा में उन्होंने बार-बार यह संकेत किया है कि निर्मल वर्मा के पात्रों का प्रश्न 'सम्पूर्ण मानव-नियति' से जुड़ जाता है। क्या इस 'नियति' का कोई सामाजिक अर्थ है, या यह 'दैव' अथवा 'भाग्य' का पर्याय है? दूसरी बात यह है कि डॉ० नामवरजी ने निर्मल वर्मा की कहानियों की तारीफ़ खासतौर से इसलिए की थी कि उनमें नयी-पुरानी कहानी की, जिनमें सामाजिक कहानियाँ भी शामिल हैं, रूढ़ियों से छुटकारा पाने का सार्थक प्रयत्न किया गया था। उन्होंने 'सामाजिक संघर्ष' का विरोध

१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ २३१.

२. द मीनिंग ऑफ कन्टेम्परेरी रियलिज्म, मर्लिन प्रेस लिमिटेड, १९६६, पृष्ठ १२२.

नहीं किया था, बल्कि उसे 'स्थूल' रूप में कहानी में चित्रित करने का विरोध किया था। क्या यह बात गलत है कि ढेर सारी सामाजिक संघर्ष वाली कहानियों में समस्या को पात्रों की 'गहन आंतरिक समस्या' का रूप नहीं दिया गया? 'गहन आंतरिक समस्या' पर बल देने का मतलब 'तथ्य' को छोड़कर मात्र 'भाव' में खो जाना नहीं, बल्कि समस्या को विश्वसनीय और जीवन्त रूप में उपस्थित करना है। दूसरे, यदि कहानी कलाकृति है तो उसमें प्रभावान्विति का महत्व रहेगा और तब कहानी का कोई विशेष अवयव स्वतंत्र रूप में नहीं, बल्कि प्रभावान्विति के माध्यम से ही पाठकों पर अपना प्रभाव अंकित करेगा। 'निर्मल' की कहानियों में प्रभाव की गहराई इसीलिए है कि उनके यहाँ चरित्र, वातावरण कथानक आदि का कलात्मक रचाव है। कलात्मक रचाव स्वयं रूप के विविध तत्वों के अन्तर्गत, फिर वस्तु और रूप के बीच तथा स्वयं वस्तु के अन्तर्गत। पात्र अलग इसलिए याद नहीं आते कि परिस्थितियों के अंग हैं<sup>१</sup>। 'परिदे' की कहानियों की यह विशेषता नयी कहानी की एक उपलब्धि थी, जिसे डॉ० नामवरजी ने ठीक ही रेखांकित किया था। उन्होंने उनकी प्रशंसा जिन अन्य बातों को लेकर की, वे थीं निर्मल वर्मा का कलात्मक संयम और उनके द्वारा प्रयुक्त 'शुद्ध' या नया गद्य। कलात्मक संयम वस्तुतः निर्मल वर्मा में सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। भावुकता से लेकर उसके चित्रण तक में। उनकी भाषा के कवित्व की ओर डॉ० नामवरजी ने जो संकेत किया है। उसके साथ ही हमें उनके इस कथन को भी देखना चाहिए : "इन कहानियों को पढ़ते समय एक नये गद्य से परिचय होता है – अपने प्रयोजन के लिए बनाया हुआ लेखक का अपना गद्य। संभवतः कहानी का गद्य इतना संवेदनशील तो पहले कभी न था। या तो भावोच्छ्वसित गद्य काव्य था या नितांत कामकाजी! 'परिदे' को देखकर लगता है कि भाषा के क्षेत्र में जो काम इतने दिनों में प्रयोगशील नयी कविता भी न कर सकी उसे अंततः कहानी के गद्य ने कर दिखाया। छोटे-छोटे संवादों में उभारी हुई 'पिक्चर पोस्टकार्ड' कहानी संभवतः इस गद्य के निखरे हुए आधुनिकतम रूप को प्रकट करती है।"<sup>२</sup> इस उद्धरण में अन्तिम वाक्य खासतौर से ध्यातव्य है, क्योंकि उसे अनदेखा करके ही यह कहा गया है कि डॉ० नामवर जी ने निर्मल वर्मा के गद्य की प्रशंसा इसलिए की है कि वह अत्यन्त 'कवित्वपूर्ण' है। निर्मल वर्मा के गद्य में कवित्व है, पर उसका 'निखरा हुआ आधुनिकतम रूप' वह है, जो 'पिक्चर पोस्टकार्ड' के छोटे-छोटे संवादों में देखने को मिलता है। डॉ० नामवरजी पर कहानी की आलोचना कविता के प्रतिमानों पर करने का जो आरोप लगाया गया है, वह जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उनकी 'परिदे' की समीक्षा को सामने रखकर ही। कहानी की आलोचना में कविता की आलोचना के प्रतिमानों का सर्वथा निषेध सम्भव नहीं है, जैसे कि कविता की आलोचना में साहित्य अथवा कला के दूसरे रूपों के प्रतिमानों की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० नामवरजी ने लिखा भी है कि "नयी कहानी को कहानी-कला की अपनी विशेषता के साथ ही सम्पूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है....।"<sup>३</sup> 'कहानी-कला' की अपनी विशेषता यहाँ पुनः ध्यातव्य

१. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६६.

२. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ६८.

३. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ ३६.



है। डॉ० नामवरजी पर लगाया गया आरोप निराधार है, क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि “हिन्दी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य-समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा-नाटक आदि साहित्य-रूपों का विधिवत् विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है।” उनकी कहानी-सम्बन्धी आलोचना इस दिशा में न केवल ‘प्रयास’ है, बल्कि वह हिन्दी की कहानी-सम्बन्धी आलोचना की विशेष रूप से और हिन्दी आलोचना की सामान्य रूप से एक उपलब्धि है।

---

अध्याय षष्ठ

डॉ० नामवर सिंह  
की  
आलोचना-दृष्टि

## डा० नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि

आलोचना को पुरातात्विक चिंतन के बदले सर्जनात्मक चिंतन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समकालीन रचनाशीलता और आलोचना में संबंध और समानांतरता हो। रचना में समकालीन संवेदनशीलता को व्यंजना होती है और सार्थक आलोचना में समकालीन संवेदनशीलता की व्याख्या। समकालीन संवेदनशीलता से कटी हुई रचना उतनी ही निरर्थक है जितनी समकालीन संवेदना से शून्य आलोचना। सार्थक आलोचना समकालीन रचनाशीलता में व्यक्त संवेदनशीलता की पहचान और समीक्षा केवल परम्परा के संदर्भ में ही नहीं करती, उसे वह रचना के परिवेश, परिवेशगत जीवन-मूल्य और सामाजिक संवेदनशीलता के संदर्भ में भी जाँचती-परखती है। प्रत्येक महत्वपूर्ण रचनात्मक प्रवृत्ति और आन्दोलन के दौरान रचना की प्रकृति और कलात्मक अनुभव से संबंधित नए प्रश्न पैदा होते हैं, नई रचनाशीलता की सार्थकता का प्रश्न सामने आता है। एक सार्थक और संवेदनशील आलोचक उन प्रश्नों के व्यवस्थापन और प्रतिपादन का काम करता है और परिवेश तथा रचनाशीलता के सबध-बोध से उन प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश भी करता है। ये प्रश्न जिस रचनात्मक परिवेश और प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं, उतर भी उसके बीच से निकलने चाहिए। ऐसी स्थिति में भी स्वदेशी प्रश्नों के विदेशी उत्तर अनुपयोगी होंगे। बाहर से बने-बनाए उत्तर आरोपित करने से रचनाशीलता की समस्याओं का सार्थक समाधान नहीं हो सकता। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि रचना के सामने आलोचना आत्मसमर्पण कर दे या रचना में निहित वस्तु और विचार को बिना विवेक के पूर्णतः स्वीकार कर ले। यह तो आलोचना की प्रकृति के प्रतिकूल होगा, यह आलोचना की विडंबना होगी। आवश्यक यह है कि रचना को व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में रखकर देखा-परखा जाए और उसके बाद ही रचना से उत्पन्न प्रश्नों पर विचार किया जाए। मार्क्सवादी दर्शन और उससे निर्मित सौन्दर्यशास्त्र या आलोचना सिद्धान्त से आलोचक को एक समर्थ आलोचना-दृष्टि प्राप्त होती है, लेकिन देखने-परखने का काम तो उसे स्वयं करना होगा। 'मार्क्सवाद कोई डागमा नहीं है, वह कर्म का मार्गदर्शक दर्शन है।' एंगेल्स का यह कथन जितना राजनीति के संदर्भ में सच है, उतना साहित्य के संदर्भ में भी। विभिन्न देशों के मार्क्सवादी आलोचकों ने अपने समाज की वास्तविकता और साहित्य की रचनाशीलता के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि का विकास किया है और अपने साहित्य की विभिन्न रचनाशील प्रवृत्तियों से उत्पन्न प्रश्नों के उत्तर खोजने के प्रयत्न में ही आलोचना के प्रतिमान विकसित किए हैं। मार्क्स और विभिन्न देशों के प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों-आलोचकों ने साहित्य और कला के प्रश्नों पर बहुत कुछ सोचा-विचारा है लेकिन उन्होंने हर जगह और हर काल के साहित्य और कला की रचनाशीलता के संदर्भ से उत्पन्न समस्याओं का समाधान स्वयं करना होगा।

ऐसी समस्याओं को पहचानने और उनके समाधान पर विचार करने का काम निश्चय ही बहुत कठिन है। यह रास्ता खतरनाक भी है, क्योंकि ऐसे प्रयत्न में प्रायः गलत समझे जाने का खतरा भी होता है। डॉ० नामवर

सिंह ने अपनी आलोचना-दृष्टि के विकास के लिए ऐसा प्रयत्न किया है और वे कई बार गलत समझे जाने के खतरे के शिकार भी हुए हैं। डॉ० नामवर सिंह के सम्पूर्ण आलोचनात्मक चिंतन और व्यवहार में समकालीन रचनाशील प्रवृत्तियों की पहचान, उसकी उपलब्धियों और कमजोरियों का विश्लेषण और समकालीन संवेदनशीलता की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए ही 'सामयिक साहित्यिक वातावरण में निहित प्रतिमानों' की खोज का प्रयत्न मिलता है। उन्होंने लिखा है - "जीवन्त साहित्य के समानान्तर जीवन्त साहित्य-बोध होता है, जिसमें अतीत की जीवन्त स्मृति के साथ ही परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति सतत् जागरूकता भी होती है। आलोचना का काम इसी संश्लिष्ट समसामयिक बोध को परिभाषित और संगठित करना है - स्वयं से अधिक लोगों को इस आत्मबोध के प्रति सतर्क करते हुए उसके निर्माण में सहायता देना है।" नई रचनाशीलता का सच्चा मूल्यांकन न तो पुराने प्रतिमानों से हो सकता है, और न पुराने प्रतिमानों से। अपने साहित्य की रचनाशीलता की दूसरी समानधर्मी रचनाशीलता से तुलना उपयोगी होती है, बशर्ते कि तुलना का उद्देश्य या बुरा साबित करना न हो, विशिष्टता का उद्घाटन करना हो।

किसी आलोचक की आलोचनात्मक संवेदनशीलता मुख्यतः समकालीन कला-संवेदना से बनती है। यह सच है कि परम्परा की जीवन्तता, प्रयोग की सार्थकता और प्रगति की चेतना से निर्मित कला-बोध से सार्थक साहित्य-विवेक विकसित होता है, लेकिन अगर इस साहित्य-विवेक का समकालीन संवेदनशीलता से निरन्तर पुनर्नवीनीकरण न होता रहे तो उससे न तो समकालीन रचनाशीलता का सही मूल्यांकन हो सकता है, और न पुराने साहित्य के प्रति नई पीढ़ी की संवेदनशीलता के संदर्भ में प्रासंगिक आलोचनात्मक प्रतिक्रिया ही संभव होती है। नई रचनाशीलता की हर प्रवृत्ति को शका और उपेक्षा की नजर से देखने वाले आलोचक एक खास किस्म के पुरातन पंथी होते हैं, जो नए की कीमत पर पुराने को, प्रयोग की कीमत पर परंपरा को और प्रगति की कीमत पर स्थायित्व को महत्व देते हैं। वाल्टर बैजामिन ने ऐसे आलोचकों को 'उत्पादन का दुश्मन' कहा है। ऐसे आलोचक सारतः परिवर्तन-विरोधी होते हैं और फलतः प्रगति-विरोधी भी। निश्चय ही साहित्य और कला की हर नई प्रवृत्ति प्रगतिशील ही नहीं होती। नई रचनाशीलता की समीक्षा करते समय प्रगतिशील और प्रगति-विरोधी प्रवृत्तियों में फर्क करना जरूरी है, लेकिन यह तभी संभव है जब नई रचनाशीलता के बोध और मूल्यांकन का प्रयत्न हो, न कि उसकी उपेक्षा और केवल निन्दा। नई रचनाशीलता का अंधविरोध उतना ही हानिकारक है जितना अंधसमर्थन।

डॉ० नामवर सिंह के आलोचनात्मक विवेक की सार्थकता इस बात में है कि उन्होंने 'संश्लिष्ट समसामयिक बोध को परिभाषित और संगठित' करने का प्रयत्न किया है। नए काव्य-सृजन में निहित सार्थक मूल्यों की पहचान का प्रयत्न 'इतिहास और आलोचना' में है और 'कविता के नए प्रतिमान' में भी। लेकिन काव्य-सृजन में निहित या व्यक्त मूल्यों की सार्थकता की परख तो जीवन-मूल्यों की कसौटी पर ही होती है। जीवन-मूल्यों की कसौटी पर काव्य-मूल्यों की सार्थकता की परख की कोशिश 'इतिहास और आलोचना' में सार्थक और सुसंगत ढंग से हुई है,

लेकिन 'कविता के नए प्रतिमान' में कदाचित् कुछ कम या सांकेतिक रूप में।'

रचना की तरह आलोचना भी एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग है। रचना का संबंध व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से होता है, लेकिन आलोचना का संबंध रचना से भी होता है और व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से भी। उसका संबंध कलात्मक संवेदनशीलता से होता है और सामाजिक संवेदनशीलता से भी। आलोचना की सार्थकता के लिए समकालीन रचनाशीलता और सामाजिक जीवन के यथार्थ का संबंध-बोध ही पर्याप्त नहीं होता, रचनाशीलता की परम्परा, प्रक्रिया, प्रभाव और परिणाम की चिन्ता भी आवश्यक होती है। आलोचना रचना और पाठक के बीच मध्यस्थता करती है और रचना के यथार्थ तथा सामाजिक जीवन के यथार्थ के संबंध की व्याख्या भी करती है। आलोचना का सौन्दर्य अगर उसकी साहित्यिकता पर निर्भर है तो उसकी सार्थकता उसकी सामाजिकता पर। आलोचक को साहित्य की दुनिया से बाहर जाकर रचना को उस समाज से जोड़कर देखना-परखना होता है जिससे साहित्य पैदा होता है। आलोचना की प्रामाणिकता आलोचक की कलात्मक अंतर्दृष्टि और साहित्यिक समझ पर निर्भर हो तो आलोचना की सामाजिकता दूसरे मानवीय व्यवहारों और अभिप्रायों से कला को जोड़कर देख सकने की क्षमता पर। आलोचक रचना में व्यक्त यथार्थ की वस्तुपरकता और रचनाकार की चेतना की आत्मपरकता की ही नहीं, वस्तु की आत्मपरकता और चेतना की वस्तुनिष्ठता की पहचान यथार्थ और चेतना के संबंध के संदर्भ में करता है। इसके लिए उसे बार-बार रचना से बाहर के सामाजिक यथार्थ की वैचारिक यात्रा करनी पड़ती है। यही कारण है कि आलोचक रचना करते समय अपनी चेतना और सामाजिक यथार्थ के संबंध की भी समीक्षाकरता चलता है (बशर्ते कि वह ऐसा करता चले)। रचना के यथार्थ को रचना तक सीमित रखने की प्रवृत्ति और प्रक्रिया 'नई समीक्षा' की, है और रचना को सामाजिक यथार्थ की केवल छाया मान लेने की प्रवृत्ति कुत्सित समाजशास्त्रीयता की। इन दोनों प्रकार की आलोचना-दृष्टियों में सामाजिक यथार्थ और रचनागत यथार्थ के द्वन्द्वात्मक संबंध की सही पहचान नहीं होती, दोनों में आलोचक की विश्व-दृष्टि और कला-दृष्टि में अलगाव बना रहता है।

डॉ० नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि में आलोचना-प्रक्रिया की यह सार्थक जटिलता देखी जा सकती है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके आलोचनात्मक व्यवहार में सरलीकरण और सामान्यीकरण का अभाव है। अपने आलोचनात्मक व्यवहार में विरोधी पक्ष की दुर्बलता पर चोट करने और उनके साथ-साथ अपने पक्ष की शक्ति के प्रदर्शन में वे कभी-कभी अतिरंजना का भी सहारा लेते हैं।

किसी आलोचक का जीवन-विवेक उसकी विचारधारा से अनुशासित होता है और उसका साहित्य-विवेक उसके जीवन से। आलोचना एक ओर आलोचक के वैचारिक आत्मसंघर्ष का माध्यम है तो दूसरी ओर विचारधारात्मक संघर्ष का साधन भी। विचारधारात्मक संघर्ष का साधन बनकर ही वह व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष का हथियार भी सिद्ध

होता है। एक मार्क्सवादी आलोचक आलोचना को सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष में 'आलोचना के हथियार' के रूप में इस्तेमाल करता है। उसका आलोचनात्मक संघर्ष केवल साहित्य के लिए संघर्ष नहीं होता, वह मूलतः समाज-व्यवस्था के बुनियादी बदलाव की आस्था के लिए संघर्ष होता है। मार्क्सवादी आलोचना एक संश्लिष्ट वैचारिक दृष्टि की देन होती है जिसमें विश्व-दृष्टि और कला-दृष्टि की एकता होती है। वैचारिक संघर्ष का साधन होने के कारण ऐसी आलोचना का एक विसंवादी रूप अनिवार्यतः विकसित होता है। इस प्रकार का वैचारिक संघर्ष डॉ० नामवर सिंह की आलोचना के केन्द्र में निरंतर विद्यमान रहा है। उनकी आलोचना का यह संघर्ष कभी मार्क्सवादियों के बीच आपसी बहस के रूप में प्रकट होता है और कभी विरोधी विचारधारा से संघर्ष के रूप में। 'इतिहास और आलोचना' में संघर्ष के केन्द्र में विचारधारा है और 'कविता के नए प्रतिमान' में कला-दृष्टि। अपनी कमजोरियों के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाने का एक रूप आत्मालोचना भी है जिसके अंतर्गत उन्होंने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना की कमजोरियों की आलोचना की है, लेकिन ऐसी आलोचना का लक्ष्य अपनी कमजोरियों परविजय प्राप्त करना होता है, किसी को परास्त करना नहीं।

हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास की यह एक विडंबनापूर्ण सच्चाई है कि यहाँ भारतीय साहित्य-विशेषतः हिन्दी साहित्य की परंपरा, रचनात्मक परिवेश और नई रचनाशीलता के संदर्भ में ऐसा सैद्धान्तिक चिंतन कम ही हुआ जो मार्क्सवादी दर्शन से अनुशासित होते हुए भी स्वदेशी भी हो। मुक्तिबोध आधुनिक हिन्दी साहित्य में अनेक प्रकार की विशेषताओं और अपवादों के उदाहरण हैं, इस क्षेत्र में भी उनकी यही स्थिति है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास में मुक्तिबोध के मौलिक और महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक चिंतन का मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष से उसका व्यवहारिक पक्ष ही अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में एक-दो आलोचकों की उपलब्धियों को दुनिया के बड़े से बड़े मार्क्सवादी आलोचक की व्यवहारिक आलोचना की उपलब्धियों के समकक्ष रखा जा सकता है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के केन्द्र में कविता रही है। फिर भी अनेक महत्वपूर्ण कवि मार्क्सवादी आलोचना के कविता-संबंधी व्यवहार के पिछड़ेपन की शिकायत करते हैं। उपन्यास, कहानी और नाटक की आलोचना के संदर्भ में कुछ छुटपुट प्रयत्नों के बावजूद कोई गौरवशाली उपलब्धि नहीं हुई। इन साहित्य-रूपों के निजी, प्रामाणिक मार्क्सवादी आलोचना शास्त्र और सिद्धान्त की कौन कहे, इनकी व्यवहारिक आलोचना भी अभी अविकसित या अर्द्धविकसित अवस्था में ही है।

डॉ० नामवर सिंह मुख्यतः और मूलतः कविता के आलोचक हैं। "कहानी : नई कहानी" में उन्होंने कहानी-समीक्षा के विकास की जो सार्थक शुरुआत की थी, उसमें नवीनता और ताजगी थी, कहानी की तात्त्विक आलोचना या शास्त्रीय समीक्षा से अलग हटकर वस्तुतात्त्विक विवेचना, संरचनात्मक विश्लेषण और कलात्मक मूल्यांकन का प्रयास भी था। लेकिन उसमें जिस सहयोगी प्रयास और रचना-आलोचना संवाद की बात कही गई थी, उसका

अन्त कटु विवाद में ही हुआ। वैसे विवाद और आलोचक डॉ० नामवर सिंह लगभग पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। उनका शायद ही कोई ऐसा निबंध हो, जिसको लेकर हंगामे के स्तर तक विवाद न हुआ हो। लगता है, डॉ० नामवर सिंह स्वयं विवाद पैदा करने और बहस करने में पहल भी करते हैं और मजा भी ले हैं। 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' में उनका विश्वास है और वाद-विवाद और संवाद की प्रक्रिया से विचार विकसित करने की उनकी आदत है। 'कहानी: नई कहानी' के साथ ही डॉ० नामवर सिंह 'इत्यलम्' कहकर कहानी-समीक्षा से अलग हो गये और पुनः अपने निजी क्षेत्र (कविता) की आलोचना की ओर लौट आये। वैसे कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि कहानी-समीक्षा में भी उनकी काव्य-सवेदना का ही प्रसार-प्रभाव दिखाई पड़ता है। डॉ० नामवर सिंह ने 'हिन्दी के विकास' में अपभ्रंश कायागदान' से अपनी आलोचना-यात्रा शुरू की और तब से 'कविता के नये प्रतिमान' तक 'कहानी : नई कहानी' सम्बन्धी भटकाव या व्यक्तिक्रम को छोड़कर वे लगातार कविता की आलोचना में सक्रिय रहे हैं।

डॉ० नामवर सिंह के साहित्य-संबन्धी सैद्धान्तिक चिंतन पर विचार करने में अनेक कठिनाईयाँ हैं क्योंकि उनकी आलोचना में सिद्धान्त और व्यवहार की ऐसी एकता है जिसमें से एक को दूसरे से अलग करना सरल नहीं है। उनके निबंधों या पुस्तकों के शीर्षक प्रायः सैद्धान्तिक लगते हैं लेकिन उनके भीतर सिद्धान्त-निर्माण से अधिक व्यावहारिक विवेचन का प्रयत्न दिखाई देता है। उनके निबंधों या पुस्तकों में सैद्धान्तिक चिंतन की प्रक्रिया यह है कि वे प्रारम्भ में किसी विचार को सूत्र रूप में देखते हैं। वह विचार अपना हो सकता है या दूसरों का भी, देशी हो सकता है या विदेशी भी। फिर वे उसकी व्याख्या करते हैं। व्याख्या के समर्थन में उदाहरण रखकर उसका विवेचन करते हैं। व्याख्या के समर्थन में उदाहरण रखकर उसका विवेचन करते हैं। इस तरह विचार की सच्चाई की परख व्यवहार की कसौटी पर करते हैं और अंत में निष्कर्ष के रूप में जो विचार प्रस्तुत करते हैं वे प्रायः उनके अपने सैद्धान्तिक निष्कर्ष होते हैं। वैचारिक स्थापना, विश्लेषण, उदाहरण, व्याख्या और निष्कर्ष की यह विचार-प्रक्रिया मूलतः आचार्य शुक्ल की है। जिसका उपयोग डॉ० नामवर सिंह ने किया है। कभी-कभी वे अत्यन्त साधारण, अति परिचित उदाहरण से अपनी बात शुरू करके कमशः गहरे चिंतन में प्रवृत्त होते हैं और विश्लेषण तथा विवेचन के समय अपनी वैचारिक यात्रा में पाठक को साथ लेकर चलते हैं, और अंततः वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह पाठक का अपना निष्कर्ष बन जाता है। लोकप्रिय लेखन की ये विशेषताएँ 'इतिहास और आलोचना' में मौजूद हैं, लेकिन 'कविता के नये प्रतिमान' में सपाटबयानी की जगह जटिलता आ गई है।<sup>१</sup>

डॉ० नामवर सिंह की आलोचना में जिस तरह के व्यवहार से ही आलोचना के सिद्धान्त निकलते हैं उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम-से-कम साहित्य में वे यह मानते हैं कि विचार व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। उनके आलोचनात्मक व्यवहार से निष्कर्षित विचारों को अगर एकत्रित किया जाए तो यह मालूम होगा कि उन विचारों में एक सुव्यवस्था है और कमबद्धता भी। उनके प्रारंभ का सैद्धान्तिक चिंतन मार्क्सवादी दर्शन से अनुशासित

१. सम्पादक सुधीश पद्गीरी, नामवर के विमर्श, पृष्ठ २५७ (डॉ० मैनेजर पाण्डे के विचार)।

है, उस पर मार्क्सवादी आलोचकों के विचारों का प्रभाव भी है लेकिन उनका साहित्य-विवेक अपना है। उनकी कलात्मक अंतर्दृष्टि, संवेदनशीलता और साहित्यिक समझदारी के निजीपन के कारण ही उनके सैद्धांतिक चिंतन में नवीनता आई है। डॉ० नामवर सिंह ने आलोचना का कोई नया सिद्धांत या शास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न नहीं किया है। साहित्य और उसकी आलोचना से संबंधित विभिन्न समस्याओं के बारे में उन्होंने प्रसंगवश जो कुछ सोचा-विचारा है उसी में उनका सैद्धांतिक चिंतन प्रतिफलित हुआ है।

साहित्य और कला में सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति होती है—इस स्थापना को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है, लेकिन साहित्य और कला में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की पहचान सरल भी नहीं है। साहित्य और कला के प्रतिबिम्बात्मक स्वरूप के साथ-साथ उसके सर्जनात्मक स्वरूप के विश्लेषण में ही आलोचना की सार्थकता प्रकट होती है। काव्य-सत्य की सामाजिक सत्य का 'अविकल अनुवाद' या 'सीधी छाया' समझने वाली आलोचना कुत्सित समाजशास्त्रीयता का शिकार होती है तो काव्य-सत्य की समाजनिरपेक्ष सत्ता में विश्वास करने वाली आलोचना रूपवादी चिंतन का। डॉ० नामवर सिंह ने साहित्य में सामाजिक सत्य की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के बारे में लिखा है — "कविता राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का अविकल अनुवाद नहीं है। विविध राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक घटनाएँ मानव-व्यक्ति के मनपर जो सम्मिलित प्रभाव डालती हैं, कविता उनकी भावनात्मक प्रतिक्रिया है। काव्य में अभिव्यक्ति इतनी संश्लिष्ट होती है कि उसमें राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि तत्वों का विश्लेषण सरलता से नहीं किया जा सकता। किसी गीत की व्यथा के मूल में कौन-सी सामाजिक घटना है, यह उस गीत में उतराती नहीं फिरती जो चट से छानकर हथिया ली जाए। साहित्य अंततः साहित्य ही है — वह परिस्थितियों के सहित या सम्मिलित प्रभाव की अभिव्यंजना है। साहित्य मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व की वाणी है, अविभक्त जीवन की इकाई का प्रतिबिम्ब है।"<sup>१</sup> जाहिर है कि साहित्य में 'जहाँ सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति भावसत्ता के गहरे स्तर पर होती है तो आलोचक का कार्य कठिन हो जाता है।<sup>२</sup> और वहीं आलोचक के विश्लेषण की क्षमता की परीक्षा भी होती है।

सामाजिक सत्य की तरह राजनीतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का प्रश्न भी मार्क्सवादी आलोचना की एक महत्वपूर्ण विचारणीय समस्या है। राजनीति और साहित्य के संबंध पर मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की परंपरा में पर्याप्त विचार हुआ है। जनवादी साहित्य का एक राजनीतिक चरित्र होता है और जो लोग साहित्य से राजनीति के बहिष्कार की बात करते हैं, वे भी एक विशेष राजनीतिक दृष्टि के शिकार होते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है — "एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे आज के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।"<sup>३</sup> डॉ० नामवर सिंह ने कविता और राजनीति के संबंध पर विचार किया है। कविता और राजनीति के संबंध में एक छोर पर सहमतिवादी

१. छायावाद, पृष्ठ ६६

२. छायावाद, पृष्ठ ७८



राजनीतिक दृष्टिकोण या संपूर्ण स्वीकार का भाव होता है तो दूसरे छोर पर सहमतिवादी राजनीतिक दृष्टिकोण या संपूर्ण स्वीकार का भाव होता है तो दूसरे छोर पर समग्र-विरोध का भाव। दोनों ही दृष्टिकोणों में एक तरह का सरलीकरण निहित होता है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार समग्र विरोध की कविताएँ अतत्त एक उडेपन का शिकार होती हैं। कविता में विकृत राजनीतिक दृष्टि से उत्पन्न सरलीकरण और उडेपन का विडंबना पर विचार करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है कि कविता में "विरोध मात्र महत्वपूर्ण नहीं बल्कि महत्वपूर्ण है विरोध की यह आत्मविडंबना। विडंबना का यह स्वचेतन बोध ही कवि को एक जिम्मेदारी से बँधता है जिसके कारण कविता हर तरह के सरलीकरण से बच पाती है। गैरसमाजवादी समाज में रहने वाले मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के समर्थक कवि इसी द्विधात्मक बोध के द्वारा अपने सहकर्मियों से कहीं अधिक तनावपूर्ण नाटकीयता की सृष्टि कर ले जाते हैं।<sup>१</sup> आजकल जो लोग 'चिरंतन वाम', 'शाश्वत विद्रोह' या 'समग्र विरोध' की बात करते हैं, उनके लिए यह जानना उपयोगी हो सकता है कि इस प्रकार की दिशाहीनता और दृष्टिहीनता से रचना-कर्म सरल भले ही हो जाए, कविता या कहानी सार्थक नहीं हो सकती। दृष्टिहीन विरोध के मूल में एक प्रकार का नकारवाद होता है जिससे अराजकता उत्पन्न होती है। यह अराजकता समाज और राजनीति के लिए ही नहीं, साहित्य के लिए भी घातक साबित होती है क्योंकि रचनात्मक स्तर पर दृष्टिहीनता कलाहीनता उत्पन्न करती है। जीवत कविता और जीवत राजनीति के गहरे स्तर के संबंध पर विचार करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि 'जागरूक कवि अपने कवि-कर्म के दौरान सतर्कता के साथ राजनीतिक संदर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे-सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक अर्थ दे देते हैं। महत्वपूर्ण है राजनीतिक संदर्भ का गहरा और सही बोध। जरूरी नहीं कि कवि इस राजनीतिक संदर्भ के बारे में लिखे ही-क्योंकि संदर्भ तो कविता में व्यंग्य होता है लेकिन इस संदर्भ को व्यंजित करने के लिए उसका वास्तविक बोध जरूरी है। इस संदर्भ - बोध के बिना अराजनीतिक तो क्या, राजनीतिक कविता भी अर्थशून्य है।'<sup>२</sup>

साहित्य और राजनीति के संबंध के बारे में नामवर सिंह का यह दृष्टिकोण १९६७ का है। १९७४ में उनका दृष्टिकोण को 'आलोचना-२६' के संपादकीय में देखा जा सकता है। इस संपादकीय में विचारशीलता से अधिक उत्तेजना की व्यंजना है। उन्होंने राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य, राजनीति और संस्कृति के संबंधों पर विचार करते हुए लिखा है - "राजनीतिक परिवर्तन को लक्ष्य में रखते हुए भी एक लेखक के नाते वह अपनी रचनाओं के द्वारा सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में सक्रिय होता है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन के बिना राजनीतिक परिवर्तन कठिन है।"<sup>३</sup> निश्चय ही साहित्य सांस्कृतिक परिवर्तन के माध्यम से ही राजनीतिक परिवर्तन का सहायक साधन बनता है, लेकिन यह कहना कि सांस्कृतिक परिवर्तन के बगैर राजनीतिक परिवर्तन कठिन है, क्या प्रकारांतर से बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया में ऊपरी ढाँचे को आधार से अधिक महत्व देना नहीं है? उन्होंने

१. आलोचना, १९६८, जुलाई-सितम्बर, अंक का संपादकीय।  
 २. आलोचना, १९६८, जुलाई-सितम्बर अंक का संपादकीय।  
 ३. आलोचना-२६, १९७४ का संपादकीय।

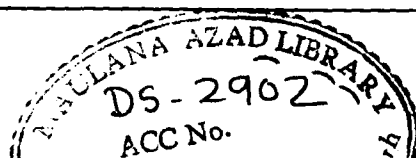
यह भी लिखा है कि 'अनेक युवा लेखकों की दृष्टि से राजसत्ता केवल दमन का अस्त्र है।' विचार करने की बात यह है कि राजसत्ता दमन का अस्त्र नहीं तो और क्या है? यह ट्रिक है कि 'व्यवस्था के राजनीतिक-सांस्कृतिक पक्ष पर प्रहार करने वाली गहरी रचनाओं की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, लेकिन अगर ये 'गहरी रचनाएँ' इतनी गहरी हुई कि पाठक को 'अनबूढ़े बूढ़े तिर्रे जे बूढ़े सब अंग' की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा तो बिरले रसिक लोग ही उनका आस्वादन कर पाएँगे और बाकी जनता तो किनारे बैठी इस रसलीला को देखती रह जाएगी—जैसा कि अब तक होता आया है। डॉ० नामवर सिंह ने इसी संपादकीय में यह भी लिखा है कि "ये लोग साहित्य को अपन गूढ़ राजनीति का लोकप्रिय साधन समझते हैं।" साहित्य को बुनियादी बदलाव की राजनीति का लोकप्रिय साधन समझना गलत कैसे है? उन्होंने आगे लिखा है कि ऐसे लेखन से 'प्रचारात्मक साहित्य के निर्माण को बढ़ावा' मिलता है जो 'रचना नहीं अनुवाद' है। बुनियादी बदलाव के सहायक साधन के रूप में प्रचारात्मक साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसे अनुवाद कहना सही नहीं है अच्छा प्रचारात्मक साहित्य लिखना कलावादियों के बस की बात नहीं है। प्रयोग और कलात्मकता के नाम पर जटिलता और बिंबधर्मिता को कविता की कलात्मकता की विशेषता मानने वाले डॉ० नामवर सिंह को ऐसा लगता है कि 'जनता को वर्ग-चेतना के फौलादी संकल्प में ढालने' के लिए ऐसा साहित्य होना चाहिए जिसको समझना जनता के लिए लोहे के चने चबाना हो। इस संपादकीय की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विशेषण संज्ञा के दुश्मन बन गए हैं। कहा जाता है कि विशेषण भाषा के दुश्मन होते हैं, लेकिन यहाँ तो वे विचार के भी दुश्मन बन गए हैं। इस संपादकीय में शायद ही कोई ऐसी धारणात्मक संज्ञा हो जिसके अर्थ को सीमित, संकुचित या विकृत करता हुआ कोई—न कोई विशेषण साथ न लगा हो। 'राजनीतिक समझ' के 'स्थूल' लगा हुआ है तो 'लोकवादी रुझान' के साथ 'अंध' केवल 'लेखक' के साथ लगभग एक दर्जन विशेषण है, जैसे—जागरूक, युवा, पराश्रयी निष्ठावान, पिछलग्गू, अधकचरे, अनाड़ी, अनुवादक, अग्निवर्षी आदि। इतने विश्लेषणों के बाद किसी संज्ञा के सुरक्षित बचने की कोई संभावना नहीं है।

कविता और राजनीति के संबंध का एक दूसरा पहलू कविता में विचार या विचारधारा की अभिव्यक्ति से भी जुड़ा हुआ है। कवि-दृष्टि के निर्माण में विचार की नियामक और निर्णायक भूमिका होती है और कविता में विचार-धारा की अभिव्यंजना भी होती है। लेकिन कविता में दर्शन का पदमानुवाद कवित्व के लिए सदैव घातक होता है। इस विषय पर मार्क्स, एंगेल्स के अतिरिक्त अनेक मार्क्सवादी आलोचकों के सुचितित विचार मौजूद हैं। जब डॉ० नामवर सिंह कहते हैं कि 'सिद्धान्तों के अनुकथन से ऊँची कविता नहीं बनती' या "निष्कर्ष को चित्रित प्रसंगों में अंतर्भूत होना चाहिए, उन पर आरोपित नहीं" या फिर "कविता में विचारों को सजीव चित्रों और प्रतिमा के रूप में व्यक्त होना चाहिए" तो वे मार्क्सवादी आलोचना के जाने-पहचाने विचारों को ही हिंदी रचना-आलोचना के संदर्भ में प्रासंगिक बनाने की कोशिश करते हैं।

कविता में रचनाकार की अनुभूति व्यक्त होती है और रचनाकार की यह अनुभूति उसे जीवन की वास्तविकता से प्राप्त होती है। रचनाकार अपनी रचनाशीलता से अनुभूति को विकसित करके व्यक्त करता है। डॉ० नामवर सिंह ने अनुभूति और वास्तविकता के संबंध पर विचार करते हुए लिखा – “अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया है। अपने जीवन और परिस्थितियों को बदलने के क्रम में हमारी अनुभूतियाँ भी बदलती चलती हैं, उनमें नवीनता आती है।”<sup>१</sup> कुछ लोग अनुभूति की ईमानदारी के मोह में इतना डूब जाते हैं कि वे जीवन की वास्तविकता को ही भूल जाते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि अनुभूति की ईमानदारी से अधिक महत्वपूर्ण है अनुभूति की यथार्थपरकता और जीवन की वास्तविकता से उसकी संगति। डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है – “अनुभूति वास्तविकता नहीं, वास्तविकता सबधी भावना है, इसलिए वह वास्तविकता का अंश या पहलू है। अनुभूति वास्तविकता की जगह नहीं ले सकती, उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह वास्तविकता को रचनात्मक रूप दे सके।”<sup>२</sup> कहने का मतलब यह है कि अनुभूति वास्तविकता से उत्पन्न होती है, वास्तविकता अनुभूति से उत्पन्न नहीं होती। वास्तव में अनुभूति की वास्तविकता, वास्तविकता की अनुभूति परनिर्भर होती है। इस के बीच संबंध क्या है। व्यापकता और गहराई को अनुभूति की विशिष्टता के मूल्य के रूप स्वीकार किया जाता है और रचना के मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में भी। अनुभूति के प्रसंग में व्यापकता और गहराई के संबंध तथा रचना के मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में इनकी सार्थकता पर डॉ० नामवर सिंह ने सार्थक ढंग से विचार किया है। ‘व्यापकता और गहराई’ उनके संश्लिष्ट आलोचनात्मक चिंतन का उत्कृष्ट उदाहरण है इसलिए उसमें व्यक्त विचारों का सारांश उपस्थिति करना मुश्किल ही है। फिर भी उनके कुछ निष्कर्षों को विचार के लिए लिया जा सकता है। उनका कहना है कि “मानवीयता की व्यापक भूमि पर ही कोई अनुभूति गहरी होती है,” “किसी अनुभूति की गहराई व्यापक परिवेश पर निर्भर करती है”, और “व्यापक संबंध-सूत्रों का उद्घाटन करने से भावों में गहराई आती है।” उनका निष्कर्ष है कि “अनुभूति की गहराई हर हालत में अनुभूति की व्यापकता से निर्धारित होती है।”

जनवादी रचनाकार के लिए वस्तु और रूप की समस्या को रचनात्मक स्तर पर सुलझाने समय जैसी सावधानी की जरूरत होती है, वैसी ही सतर्कता रचना पर विचार करते समय आलोचक के लिए भी आवश्यक है। जगहिर है कि रचनाकार का काम आलोचक से अधिक कठिन है, लेकिन अक्सर देखा जाता है कि रचनाकार इस समस्या का सुलझाने में सफल हो जाते हैं और आलोचना उलझन के शिकार हो जाते हैं। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में वस्तु और रूप का संबंध निरंतर विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद को जीवित रखने में डॉ० नामवर सिंह का भी योगदान है। वस्तु और रूप के संबंध के बारे में डॉ० नामवर सिंह के विचारों का विकास (?) चितनीय है। साहित्य में विषय-वस्तु की महत्ता पर विचार करते हुए उन्होंने बहुत पहले लिखा था कि “साहित्य में विषयवस्तु पर बल देने का अर्थ है यथार्थ के गहरे सत्य का पूर्ण और गहरा ज्ञान। इसी ज्ञान से जीवन के प्रति वह अडिग आस्था आती है जो संपूर्ण साहित्य को अदम्य दीप्ति देती है। यह आस्था समाज के व्यापकतम संबंध और उन

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६५.
२. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ६६.



संबंधों को वैज्ञानिक ढंग से समझने से ही संभव है।<sup>1</sup> उन्होंने यह भी लिखा है कि "विषयवस्तु पर जोर देने का अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युग-सत्य को पहचानना।" लेकिन युग-सत्य को पहचानना ही काफी नहीं है। साहित्यकार के जीवन और साहित्य में वह जितनी प्रगाढ़ता से अंतर्भूत रहेगा, उसकी रचना उतनी ही कलात्मक पराकाष्ठा पर पहुँचगी।<sup>2</sup> रचनाकार के लिए 'युग-सत्य की पहचान' के साथ-साथ जनजीवन से तादात्म्य भी जरूरी होता है। लेकिन जैसा कि डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है "वर्ग-विभाजित समाज में तादात्म्य का यह कार्य अपेक्षाकृत मद्धिम होता है क्योंकि साहित्यकार के मार्ग में अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक बाधाएँ आती हैं।" और "जब तक सामाजिक जीवन का अंतर्विरोध दूर न होगा, व्यक्तिगत जीवन का भी अंतर्विरोध बना रहेगा।"<sup>3</sup> लेकिन यह कह देने से वर्ग-विभाजित समाज में रचना करने वाले रचनाकारों का अपराध-बोध भले ही कम हो जाए, रचना की कला और लोकप्रियता के संबंध की समस्या वही-की-वही बनी रहेगी। चूँकि यह अंतर्विरोध वर्ग-समाज के पूर्ण परिवर्तन के बाद ही दूर होगा इसलिए "तर्कसंगत यही है कि रचनाकार उस परिवर्तन में अधिक-से-अधिक सक्रिय योगदान दे।" यह उसके अपने जीवन के लिए ही नहीं, उसकी कला के जीवन के लिए भी आवश्यक है।

जीवन की वास्तविकता के साथ-साथ रचना की वस्तु और रूप के परिवर्तनशील और विकासशील संबंध पर विचार करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है कि "नई वास्तविकता के साथ-साथ जैसे-जैसे कवि का संबंध गाढ़ा होता जाता है, उसके भाव और विचार क्रमशः बदलते जाते हैं, हर नई वस्तु और उसके संपर्क के हर नए क्षण जगा हुआ कवि में नए शब्द और रूप की चेतना जगाता है। उसके ठोस अनुभवों से प्राप्त भाव नया रूप-विन्यास चाहते हैं और फिर रूप-विन्यास करते भी हैं। इस रूप में व्यक्त होने पर उन भावों में गंभीर प्रभाव की क्षमता आती है क्योंकि उनके मूल में अनुभव की आत्मीयता होती है।"<sup>4</sup> तात्पर्य यह है कि अनुभव की नवीनता से वस्तु की नवीनता पैदा होती है और वस्तु की नवीनता से नया रूप विकसित होता है। वस्तु और रूप के संबंध के बारे में यह सही और संतुलित दृष्टिकोण है। 'कविता के नये प्रतिमान' में वस्तु और रूप का संबंध कथ्य-कथन संबंध के रूप में विवेचित है। इसमें वस्तु से अधिक महत्व रूप को दिया है क्योंकि 'आलोच्य कृति के संपूर्ण कथ्य को कथन मात्र के रूप में स्वीकार करके आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होने' की बात कही गई है। कथ्य-कथन के बीच द्वैत या साध्य-साधन संबंध के बदले 'कथ्य-कथन के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध' को स्वीकार करते हुए उसे 'विरोधपूर्ण एकता की संज्ञा' दी गई है। यह नहीं, कविता की मूल्यवत्ता को 'भाषा के स्तर पर' इस 'विरोधपूर्ण एकता के तनाव' पर निर्भर माना गया है। 'कविता की भाषा के स्तर पर विरोधपूर्ण एकता का तनाव' वास्तव में बिंबवादी कविताओं में अधिक होता है इसलिए प्रकारांतर से डॉ० नामवर सिंह बिंबवादी कविताओं को ही अधिक मूल्यवान मानते प्रतीत होते हैं। कविता की नाटकीय संरचना में जो तनाव होता है उसके मूल में रचनाकार के अनुभव के यथार्थ में निहित तनाव व्यक्त होता है। अनुभव में तनाव का अस्तित्व न हो तो संरचना या भाषा में पैदा किया गया तनाव कृत्रिम

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ २८.  
 २. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ३२.  
 ३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ३२.  
 ४. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ७२.

होगा। इस प्रकार कथ्य को छोड़कर केवल कथन में तनाव खोजना या केवल भाषा के स्तर पर 'विरोधपूर्ण' एकता का तनाव ढूँढना रूपवादी आलोचना की एक विशेष प्रवृत्ति है। 'छायावाद' में डॉ० नामवर सिंह ने लिखा था कि "फाम वह है जिसमें भाव भाव के साथ रूप की पूर्ण संगति हो। भाव और रूप में जहाँ अर 'गति' दिखाई पड़े वहाँ रूप में कोई त्रुटि रह गई है। रूप को संगति कहने दूसरा अर्थ यह है कि रूप-विन्यास के विभिन्न उपादानों और पक्षों में भी संगति होनी चाहिए।" 'छायावाद' में रूप का सटीक अर्थ है 'संगति' और 'कविता के नये प्रतिमान' में 'तनाव'। 'छायावाद' में डॉ० नामवर सिंह ने भाव और रूप की पूर्ण संगति में कविता का सौन्दर्य देखा है, लेकिन 'कविता के नये प्रतिमान' में उनके अनुसार 'कथ्य' कथन के बीच अंतर्निहित तनाव से कविता मूल्यवान होती है। तादात्म्य से तनाव की यह वैचारिक यात्रा तनावपूर्ण तो है ही, विडंबनापूर्ण भी है। इसका एक परिणाम यह भी है कि डॉ० नामवर सिंह ने 'इतिहास और आलोचना' में सृजनशीलता को अनुभूति से संबद्ध माना है जबकि 'कविता के नये प्रतिमान' में सृजनशीलता को काव्य-भाषा की विशेषता कहा गया है। वास्तव में 'बौद्धिक क्षेत्र में दुश्मन के मजबूत और मुश्किल मोर्चे पर विजय' हासिल करने के लिए दुश्मन के ही हथियारों से लड़ना कितना खतरनाक और आत्मघाती हो सकता है, और किस तरह विजय पराजय में बदल सकती है — यह 'कविता के नये प्रतिमान' से सीखा जा सकता है। यही 'कविता के नये प्रतिमान' में निहित आलोचना-दृष्टि की 'विसंगति और विडंबना' का कारण भी है।

जनता से कटकर जैसे जनवादी रचनाकार न तो जनवादी रह पाता है और न रचनाकार ही, वैसे ही मार्क्सवादी आलोचक जन-जीवन के यथार्थ के बोध के बिना केवल साहित्य-बोध के सहारे सार्थक आलोचक बना नहीं रह सकता क्योंकि उसका साहित्य-विवेक उसके व्यापक जीवन-विवेक का अंग होता है। रचना की समाजसापेक्ष सत्ता की तरह आलोचना की भी समाजसापेक्ष सत्ता होती है। यही कारण है कि लोकजीवन से जुड़ाव रचनाकार और आलोचक दोनों के लिए जरूरी है। लोकजीवन से कटी हुई आलोचना जन-जीवन की अंतर्वस्तु की पहचान करने में भी सक्षम होती है। लोकजीवन से जुड़ना जनवादी रचनाकार की रचनाशीलता के लिए आवश्यक है क्योंकि सृजनशीलता की मूल शक्ति लोक-जीवन में ही होती है। गोर्की ने कला और सृजनशीलता के संदर्भ में व्यक्ति और समाज के संबंध पर विचार करते हुए लिखा है—“वैयक्तिक सृजनशीलता के सर्वोत्तम प्रयत्नों से मोहक सौन्दर्य वाले तराशे और परिष्कृत रत्न पैदा हुए हैं, लेकिन अनगढ़ हीरों की खान तो समाज ही है। कला की शक्ति व्यक्ति में होती है, लेकिन सृजनशीलता की क्षमता समाज में ही निहित होती है।” समाज से सृजनशीलता प्राप्त करने के लिए ही रचनाकार लोकजीवन से जुड़ता है। डॉ० नामवर सिंह ने लोकजीवन की सृजनशील शक्ति और कलाकार से उसके संबंध की अनिवार्यता पर बल देते हुए लिखा है कि “लोकजीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गति-रोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं

सूझता, नई दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं, और पुरानी चहारदीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता तो लोकशक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है.....अधकार को चीरती है, कोहरे को छोटती है, मार्ग को प्रशस्त करती है और दम घुटते कवियों की सज्ञा में प्राणवायु का संचार करती है। नया कवि इस प्राणदायिनी शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।<sup>१</sup> लेकिन लोकजीवन की इस प्राणदायिनी शक्ति की सृजनशीलता का प्रभाव अंततः रचनाकार की ग्रहणशीलता, जागरूकता और अनुभूतिशीलता पर निर्भर है। अगर स्वयं रचनाकार में आंतरिक क्षमता न हो तो केवल लोकजीवन की सृजनशीलता से कला की रचना संभव न होगी। डॉ० नामवर सिंह ने लोकजीवन की शक्ति और कलाकार की आंतरिक क्षमता के संबंध की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि “जिस प्रकार कज-कोष सूर्य के करस्पर्श के बावजूद अपने अंतर के आह्लाद से आप-ही-आप विकसित होता है, उसी तरह आज के जागरूक कवियों में लोकशक्ति का सहज प्रस्फुटन प्रदान करती है।<sup>२</sup> काव्योचित भाषा में लोकजीवन की सृजनशीलता में अपनी आस्था व्यक्त करने के बाद डॉ० नामवर सिंह ने लोकजीवन से जुड़ाव की कवियों की आकांक्षा और कविता में लोकजीवन की अनुभूति के अभाव के अंत-विरोध पर विचार करते हुए लिखा है—“अनुभूति आकांक्षा से नहीं आती, आकांक्षा कार्यान्वित होने की ठोस प्रगति से आती है। जो ऐक्य जीवन में नहीं आ सका है वह अनुभूति में नहीं आ सकता, और जो अनुभूति में नहीं आ सका वह अभिव्यक्ति में नहीं आ सकता। आकांक्षा की विवक्षा प्रायः वायवी होती है।”<sup>३</sup>

लोकजीवन की प्राणदायिनी शक्ति में आलोचक डॉ० नामवर सिंह की यह आस्था लोकजीवन और साहित्य के संबंध को वैज्ञानिक ढंग से समझने प्रयास का फल है। लेकिन लोकजीवन और साहित्य के संबंध के बारे में डॉ० नामवर सिंह के परवर्ती चिंतन पर विचार करने से यह प्रतीत होगा कि लोकजीवन की प्राणदायिनी शक्ति में उनकी आस्था में बदलाव आया है। उनकी बदली हुई आस्था का संकेत “आलोचना-२६” (१९७४) संपादकीय में मिलता है जिसमें उनकी अनेक आश्चर्यजनक स्थापनाएँ हैं। उनके अनुसार “आम जनता तथा सर्वहारा को गौरवमंडित करना स्थूल राजनीतिक समझ का परिणाम है। यह वस्तुतः रोमांटिक और अंधलोकवादी रुझान है।” उनका यह भी कहना है कि “ताजगी और जीवंतता लोक-संस्कृति तथा लोक-साहित्य के प्राकृतिक गुण नहीं है।” और “जनता का प्रशस्तिगान अनर्गल उच्छ्वास है। उनकी यह भी स्थापना है कि “अंधलोकवाद का ही एक और रूप है सुगम और लोकप्रिय साहित्य-रूप के लिए आग्रह। इस आग्रह का परिणाम है चिर-परिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति।” जनवादी राजनीति और जनवादी साहित्य की चिंता करने वाले किसी भी व्यक्ति के मन में यह सवाल उठ सकता है कि अगर ‘आम जनता और सर्वहारा को गौरवमंडित करना ‘स्थूल राजनीतिक समझ’ का परिणाम है तो सूक्ष्म राजनीतिक समझ के अनुसार आम जनता और सर्वहारा के साथ क्या सलूक किया जाएगा? इस संपादकीय में सबसे अधिक आपत्तिजनक है ‘लोकवादी रुझान’ की निंदा। डॉ० नामवर सिंह १९५०-५५ के आसपास लोकजीवन की शक्ति को

१. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ११०.  
 २. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ११०.  
 ३. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ १११.

सामाजिक और साहित्यिक गतिरोध समाप्त करने में सक्षम मानते थे, उसको रचनाकारों का मार्गदर्शक समझते थे, लेकिन १९७४-७५ में वे लोकवादी रूझान की निंदा करते दिखाई देते हैं। १९५०-५५ में वे लोकजीवन में प्राणदायिनी शक्ति देखते थे, लेकिन १९७४-७५ में उन्हें लगता है कि 'ताजगी और जीवंतता लोकसंस्कृति तथा लोकसाहित्य के प्राकृतिक गुण नहीं है।' यह प्रश्न उठ सकता है कि फिर ताजगी और जीवंतता कहाँ होती है? क्या बुर्जुआ संस्कृति और बुर्जुआ साहित्य में? या और कहीं? १९५०-५५ में उनके अनुसार 'लोकशक्ति के तादात्म्य की अनुभूति से कविता में लोकभाषा का सहज स्फुटन होता था' जबकि १९७४-७५ में उन्हें लगता है कि 'चिर परिचित भाषा या लोकभाषा का आग्रह अधलोकवाद का परिणाम है।' उनके अनुसार १९५०-५५ में लोकजीवन की प्राणदायिनी शक्ति के ऋण को स्वीकार करते हुए नए कवियों को गौरव का बोध होता था, इस स्वीकृति से कवि को पुनर्जीवन मिलता था, जबकि १९७४-७५ में डॉ० नामवर सिंह को 'चिर-परिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति' जो दूसरे शब्दों में लोकसंस्कृति और लोकभाषा की सृजनशीलता की हीस्वीकृति है, चिंतनीय लगती है। पहले जो जनता उन्हें 'मशाल लेकर आगे बढ़ने वाली' दिखाई देती थी, अब वही जनता, 'अमूर्त' प्रतीत होती है, इसे दृष्टि-दोष कहा जाए या और कुछ?

अतः में यह भी विचारणीय है कि आलोचना-दृष्टि के बारे में डॉ० नामवर सिंह क्या सोचते हैं? उन्होंने 'आलोचना-३०' के संपादकीय में 'आलोचना-बुद्धि' का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है कि 'एक ही आलोचना-बुद्धि है जो जिदगी के मोर्चे पर सामाजिक शत्रुओं के विरुद्ध आलोचनात्मक रुख अपनाती है और साहित्य के मोर्चे पर साहित्यिक शत्रुओं के विरुद्ध और इसके साथ ही अपनी कमजोरियों के प्रति भी। 'इतिहास और आलोचना' सामाजिक-साहित्यिक शत्रुओं के विरुद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह के संघर्ष का ऐतिहासिक दस्तावेज है और 'कविता के नये प्रतिमान' में नये काव्य-सृजन के सहज ग्रहण में बाधक 'छद्म छायावादी आग्रहों' के विरुद्ध संघर्ष। डॉ० नामवर सिंह की मान्यता है कि "जिस तरह वैयाकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता। शब्दानुशासन के समान ही काव्यानुशासन भी अनुशासन है, शासन नहीं। इस अनुशासन का आधार है नए काव्य-सृजन में निहित मूल्यों का प्रतिभिज्ञान या पहचान। यह सच है कि आलोचक काव्य के मूल्य नहीं बनाता लेकिन वह मूल्य-निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण करता है और साथ ही काव्य-मूल्यों की पहचान कराते हुए नई रचनाशीलता के सार्थक और मूल्यवान की रक्षा का भी काम करता है। रचना और आलोचना के संबंध के बारे में डॉ० नामवर सिंह का कहना है कि "रचना की महानता से आलोचना महान होती है।"<sup>१</sup> उन्होंने आलोचना के विकास को समकालीन रचनात्मक संवेदनशीलता से सम्बद्ध माना ही है। समकालीन सामान्य पाठकों की रुचि के परिष्कार और 'काव्य-बोध संबंधी सूझबूझ की गहराई' पर भी आलोचना के सामान्य स्तर की ऊँचाई को निर्भर माना है। इस प्रकार आलोचना के विकास में रचनात्मक और पाठकीय संवेदना के योगदान के महत्त्व को स्वीकार किया है।

डॉ० नामवर सिंह ने आलोचना को वैचारिक संघर्ष का साधन माना है और उ ने वैचारिक संघर्ष का साधन बनाया भी है। उन्होंने अपने विचारों के लिए संघर्ष किया है और उस संघर्ष के मीठे-तीते फलों का स्वाद भी चखा है। जो वैचारिक संघर्ष की राह पर चलते हैं वे विवाद के विषय ही बनते हैं। जो लकीर के फकीर नहीं होते, लोकप्रियता का सौदा अपनी संवेदनशीलता की ईमानदारी से नहीं करते और सहमति और समझौते के बदले सच्चाई के लिए संघर्ष करना स्वीकार करते हैं, वे विवाद और निंदा के शिकार होते ही हैं। मौलिकता समकालीनता से सदा पुरस्कृत ही नहीं होती।

---



अध्याय सप्तम्

उपसंहार

## उपसंहार

प्रो० नामवर सिंह जी काव्य-भाषा, सपाटबयानी, नाटकीय काव्य-संरचना, विसंगति और विडबना, अनुभूति की जटिलता और तनाव तथा ईमानदारी को कविता के नये प्रतिमान मानते हैं। उन्होंने उनका कही सैद्धान्तिक और कही व्यावहारिक रूप में विवेचन किया है और हिन्दी आलोचना में उन्हें स्थापित करने का प्रयास किया है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उक्त प्रतिमान दोनों प्रकार के हैं – रूप से भी संबंधित और वस्तु से भी संबंधित। काव्य-भाषा, सपाटबयानी और संरचना-संबंधी प्रतिमान कविता के रूप से संबंधित हैं और विसंगति और विडबना, अनुभूति की जटिलता और ईमानदारी संबंधी प्रतिमान वस्तु से। निश्चय ही डॉ० नामवर जी की यह विशेषता है कि उन्होंने किसी प्रतिमान का विवेचन स्वतंत्र रूप में नहीं किया। रूपगत प्रतिमान का विवेचन उन्होंने वस्तु-सापेक्ष रूप में किया है और वस्तुगत प्रतिमान का विवेचन रूप-सापेक्ष रूप में। लेकिन ऐसा विवेचन तो रूपवादी आलोचक भी करते आ रहे हैं। निश्चय ही ज्यादातर विदेशी रूपवादी आलोचक फिर एक मार्क्सवादी आलोचक द्वारा किये गये इस प्रकार के विवेचन का क्या औचित्य है वे नलिन जी की आलोचना पर विचार करने के क्रम में हम देख चुके हैं कि रूपवादी केवल यही नहीं है कि रूप को वस्तु से स्वतंत्र माना जाये और उसी रूप में उसका मूल्यांकन किया जाये बल्कि यह भी है कि दोनों में संबंध मानकर भी रूप को ही निर्णायक महत्व दिया जाये और वस्तु के स्वरूप की कतई चिंता न की जाये एक मार्क्सवादी आलोचक का रूप और वस्तु के संबंध के विवेचन तक ही सीमित रहना क्या उसे रूपवादियों की पंक्ति में नहीं पहुँचा देता? डॉ० नामवर के प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है, क्योंकि प्रतिमान के प्रकाशन के बाद अनेक बार उनकी यह कहकर आलोचना की गई है कि इस पुस्तक में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना की सरणि छोड़ दी है और वे रूपवादी भटकाव के शिकार हो गये हैं। निश्चय ही इस आलोचना का कारण यह है कि आलोचकों ने 'प्रतिमान' के वैचारिक ढाँचे को समझने की कोशिश नहीं की है और उसे खण्ड रूप में देखकर उसके संबंध में अपने विचार व्यक्त कर दिये हैं।

डॉ० नामवर सिंह ने कविता के नये प्रतिमानों का जो विवेचन किया है वह पूरी तरह से मार्क्सवादी आलोचना के मेल में है। रूपगत और वस्तुगत प्रतिमानों का अत्यंत सफल विवेचन वे इसलिए कर सके हैं कि उन्होंने इन दोनों के द्वन्द्वात्मक संबंध को समझा है। यह द्वन्द्व-दृष्टि मार्क्सवादी की ही देन है। दूसरे, उन्होंने कविता के वस्तुगत रूप (Text) को जो महत्व दिया है और शब्दार्थ मीमांसा को ही जो आलोचना का बुनियादी कार्य बतलाया है, वह कविता की सापेक्ष स्वतंत्रता या स्थापना है। मार्क्सवादी आलोचना पर यह सामान्य आरोप लगाया जाता रहा है कि उसमें कविता के अपने संसार की उपेक्षा की जाती है। डॉ० नामवर सिंह जी ने कविता के अपने संसार के विश्लेषण के आधार पर ही उनके मूल्यांकन का आग्रह किया है। यह रूपवादी भटकाव नहीं, बल्कि मार्क्सवादी आलोचना को अभिप्रायपरक और प्रभावपरक हेत्वाभासों से बचकर सही लीक पर रखने का प्रयास है। रूपवादी भटकाव तब होता,

जबकि वे आलोचना को कविता के अपने संसार की व्याख्या तक ही सीमित रखते, उसके मूल्यांकन की बात नहीं करते। इस संबंध में डॉ० नामवर सिंह जी का विचार देखना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, "यदि काव्यगत वास्तविकता को ही वास्तविकता की माप का आधार बनाये तो यह मूल्यांकन नहीं बल्कि अधिक से अधिक व्याख्या होगी।"<sup>१</sup> इसके साथ उन्होंने यह भी कहा है "निःसंदेह काव्य-कृति के लिए 'काव्य-संसार' शब्द का प्रयोग हिन्दी में नया है। इससे आलोचना में एक नये रुझान का आभास होता है। इसके पीछे यह आदर्श है कि कवि इस दुनिया के अंदर एक दूसरी दुनिया का निर्माण करता है। इसके साथ संभवतः यह धारणा है कि जो कवि ऐसा नहीं कर पाता वह सृजनशील नहीं है। स्वयं उस काव्य-संसार की पड़ताल का सवाल उसके बाद उठता है लेकिन यह सवाल अतः उठता है अवश्य।"<sup>२</sup> काव्य संसार की कसौटी क्या है? इसकी जांच किस प्रतिमान के आधार पर की जाये? डॉ० नामवर सिंह जी के सामने यह प्रश्न जितना स्पष्ट रहा है उसका उत्तर भी उतना ही स्पष्ट है, "निःसंदेह किसी कविता का सिरजा हुआ संसार ही उसका मूल्य है किन्तु उस मूल्य की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर है कि वह सिरजा हुआ संसार कितना वास्तविक है अथवा वास्तविकता के बारे में हमारी समझ को कितना गहरा और कितना समृद्ध करता है हमारे आस-पास के संसार को अर्थ प्रदान करने में ही किसी कविता के अपने संसार की सार्थकता है।"<sup>३</sup> इस प्रकार काव्य-कृति का प्रतिमान है उसका काव्य-संसार और काव्य-संसार का प्रतिमान है परिवेश या परिवेशगत वास्तविकता। उन्होंने रघुवीर सहाय, साही और श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संसारों की तुलना में मुक्ति-बोध के काव्य संसार को अधिक प्रासंगिक कहा है, क्योंकि वह "फैन्टेसी के द्वारा वास्तविकता के अन्यथाकरण के बावजूद कहीं अधिक वास्तविक है।"<sup>४</sup> इसके अलावा "रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा दोनों ही कवियों से मुक्ति-बोध में जो विशेष है वह है बोध का संसार कुल मिलाकर निषेध का निषेध है। यह उसके विशिष्ट मूल्यवत्ता है।"<sup>५</sup> इसका तात्पर्य यह है कि मुक्तिबोध के पास वह ऐतिहासिक बोध था जिसके द्वारा वे सामाजिक विकास की प्रक्रिया में प्रगतिशील शक्तियों को पहचान सके थे। ये वे शक्तियाँ हैं जो विकास की प्रक्रिया में विकास की पूर्वावस्था का निषेध कर उसके सकारात्मक तत्वों को सुरक्षित रखते हुए उसे उच्चतर अवस्था तक ले जाती है। आलोचना के लिए भी यह ऐतिहासिक बोध आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना परिवेशगत वास्तविकता की जांच संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में डॉ० नामवर सिंह को रूपवादी भटकाव का शिकार बतलाना पूर्णतः निराधार है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'प्रतिमान' की जो तीखी समीक्षा डॉ० रामविलास शर्मा ने की थी उसमें उन्होंने डॉ० नामवर सिंह द्वारा निरूपित कविता के प्रतिमानों को नया मानने से इंकार किया था और उनकी कई व्याख्याओं से अपनी असहमति प्रकट की थी पर उन पर रूपवादी होने का आरोप नहीं लगाया था।"<sup>६</sup> हिन्दी के आलोचक मार्क्सवादी आल चक को आलोचना में योरोपीय और अमरीकी रूपवादी आलोचकों को किसी अवधारणा अथवा पद्धति का प्रयोग देखते ही इस पर रूपवादी

- 
१. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २१६.
  २. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २२४.
  ३. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३०.
  ४. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३०.
  ५. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २३०-३१.
  ६. साप्ताहिक हिन्दुस्तान-२८ सितम्बर, १९६६.

होने का आरोप लगा देते हैं ऐसे आलोचकों को सोवियत आलोचक ए० एनिस्त की बात पर गौर करना चाहिए, जिन्होंने साहित्य के सबंध में अमरीकी 'नई आलोचना' की बुनियादी मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए भी एलेन टेट, कलीथ वुक्स, ब्लैकमर, बिमसाट और रेन्सम के बारे में लिखा है कि उन्होंने "हमें अवगणनापूर्वक पढ़ना और द्वैधवृत्ति को पहचानना सिखलाते हुए साहित्यिक कृतियों में उन चीजों का अनावृत किया है जो पहले के पाठकों से अनदेखी रह गई थी।"<sup>१</sup>

डॉ० नामवर सिंह की आलोचना शैली मार्क्सवादी है और उसी के अनुरूप वह पूर्ववर्ती आलोचना के उन सभी औजारों को काम में लाती है जो आज भी साहित्य की व्याख्या और मूल्यांकन की दृष्टि से उपयोगी है। उनकी आलोचना हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना की महत्वपूर्ण कड़ी है। स्वभावतः वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी और डा० रामविलास शर्मा की विरासत को समेटकर चलती है। डॉ० नामवर सिंह की आलोचना की भाषा 'सामान्य भाषा' का ही उन्नत रूप है, पर इसमें शास्त्र-ज्ञान और तज्जनित गंभीरता छुपी हुई है इसमें सादगी और पैनापन तो है ही, गजब की हार्दिकता है जो साहित्य के प्रति उनकी गहरी आत्मीयता की देन है। हिन्दी में पिछले दिनों आलोचना में सृजनात्मकता की बहुत चर्चा हुई है। डॉ० नामवर सिंह जी की आलोचना शास्त्रीय आलोचना की तरह व्यवस्थित, सांगोपांग और तार्किक परिणामों तक जाने वाली और सृजनात्मक आलोचना की तरह मौलिक और नवीन है। वह दोनों आलोचना प्रणालियों से मुक्त है, यानि कि उनमें शास्त्रीय आलोचना की रुढ़िग्रस्तता और सरणिबद्धता है, न कथित सृजनात्मक आलोचना की अव्यवस्था और आत्मनिष्ठता। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का एक खण्डन मण्डन परक रहा है। डॉ० नामवर सिंह ने उसके विपरीत आलोचना में 'सहयोगी प्रयास' को महत्व दिया है, जिसमें आलोचक अपनी निजी प्रतिक्रिया के साथ ही स्वयं आलोच्य कृति को भी सामने रखते हुए समानधर्मी पाठकों एवं आलोचकों को विचार-विनिमय के लिए जैसे निमंत्रित सा करता है ताकि मूलकृति के गिर्द निर्मित विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्व से सामान्य निर्णय तक पहुँचना सम्भव हो सके। इस 'सहयोगी प्रयास' का उदाहरण है 'कविता के नये प्रतिमान'। आलोचना में डॉ० नामवर सिंह ने अनेक बार बातचीत की शैली का भी प्रयोग किया है, जिससे हिन्दी-आलोचना पुस्तकों से निकल कर व्यावहारिक जीवन के बीच खड़ी हुई है। यह चीज हमें, 'ज्ञानोदय (१९६३) में प्रकाशित उनकी 'नई कविता पर क्षण भर' शीर्षक लेखमाला तथा उनकी 'कहानी : नई कहानी' की टिप्पणियों में दिखलाई पड़ती है। उनकी आलोचना की इन सारी विशेषताओं के मूल में उनकी यह मार्क्सवादी मान्यता है कि आलोचना को समसामयिक अर्थात् अधिक से अधिक व्यावहारिक होना चाहिए, जैसे साहित्य को जीवन से कटी हुई वस्तु नहीं है वैसे ही आलोचना भी अधिक से अधिक प्रासंगिक होकर ही सार्थक होती है। डॉ० नामवर सिंह जी ने छायावाद पर जो आलोचना लिखी है, वह भी समसामयिक बोध को ही प्रखर बनाने के लिए नई कविता या नई कहानी संबंधी

उनकी आलोचना निश्चित रूप से हमारे समसामयिक जीवन-बोध को समृद्ध बनाती है और उसे सही दिशा में निर्देशित करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रुढ़ियों और संकीर्णताओं से मुक्त और मार्क्सवादी आलोचना के सम्मुख उपस्थित चुनौतियों का सामना करने वाली उनकी आलोचना स्वतंत्र्योत्तर भारत में जड़ सूत्रवाद और संकीर्णतावाद से मुक्त होकर विकसित होने और फैलने वाले कम्युनिस्ट आंदोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति है।

कुल मिलाकर 'कविता के नये प्रतिमान' का विवेचन नये काव्य के ग्रहण के लिए एकदम नये रास्ते बनाता है और वह बिन्दु स्थिर करता है जहाँ से आगे बढ़ रही कविता के और भी सार्थक मूल्यांकन की प्रक्रिया ठीक से आरंभ हो सकती है। हिन्दी कविता के बारे में यह सचमुच महत्वपूर्ण, दिशादर्शक व्यस्क प्रयास है जिससे सही हिन्दी कविता और सही हिन्दी आलोचना दोनों की निःसंदेह बल मिलेगा।

**अनुक्रमणिका**

## अनुक्रमणिका

### सहायक संदर्भ साहित्य:

- डॉ० अजब सिंह : आधुनिक काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७५ ई०।
- स्वच्छन्दतावाद : छायावाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७५.
- नवस्वच्छन्दतावाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८७.
- अमृतराय : नयी समीक्षा, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण, १९८२ ई०।
- डॉ० अरविन्द : सप्तक काव्य, मैकमिलन इण्डिया प्रेस, मद्रास, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९७६ ई०।
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, विद्या मंदिर, बलनाल, बनारस, द्वितीय संस्करण, १९५६ ई०।
- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
- आधुनिक साहित्य, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९५६ ई०।
- नयी कविता, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७६ ई०।
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, सं० २०२३ वि०।
- हिन्दीसाहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, सं० २००२ वि०।
- चिन्तामणि भाग-२, सरस्वती मंदिर, काशी।
- डॉ० इन्द्रनाथ : आधुनिक कविता का मूल्यांकन, हिन्दी भवन, जालंधर, प्रथम संस्करण, १९६२ मार्च।
- आधुनिकता और हिन्दी आलोचना, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, १९७५ ई०।
- हिन्दी आलोचना : पहचान और परख, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४ ई०।

- डॉ० रघुवीर वंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६३ ई०
- शुक्लोत्तर समीक्षा, सम्पादक डॉ० वसुदेव नन्दन प्रसाद, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण, १९७८ ई०।
- रामविलास शर्मा : नयी कविता और अस्तित्ववाद, किताब महल, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५० ई०
- प्रगति और परम्परा, किताब महल, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४८ ई०।
- डॉ० नरेन्द्र देव वर्मा : प्रयोगवाद, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, प्रथम संस्करण, १९६४ ई०।
- डॉ० नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६२ ई०।
- छायावाद, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०।
- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९६४ ई०।
- कहानी : नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६६ ई०।
- कविता की नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, दरिया गंज, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, १९६८ ई०।
- हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५२ ई०।
- वकलम खुद, साहित्य सहकर प्रकाशन, १९५१ ई०।
- दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९८२ ई०।
- वाद, विवाद और संवाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८६ ई०।
- समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, वाणीप्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६४ ई०।
- सुधीश पचौरी : नामवर सिंह के विमर्श, प्रवीण प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९६५ ई०।
- पत्र-पत्रिकार्ये
- आलोचना : अंक जुलाई-सितम्बर, १९६७।  
अंक अक्टूबर-दिसम्बर, १९६७।



	अंक जुलाई-सितम्बर, १९६८
	अंक अप्रैल-जून, १९७०
	अंक अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३
	अंक जनवरी-मार्च, १९७४
कवि(बनारस)	: अप्रैल-१९५७, नामवर सिंह : गजानन माधव मुक्तिबोध
नयी कविता	: प्रकाशन विभाग, सूचनाऔर प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, १९६७
पहल	: अंक ३४, मार्च-मई, १९८८, ७६३, अग्रवाल कालोनी, जबलपुर
पुनश्च	: तारसप्तक, द्वितीय संस्करण
माया	: भारत, १९६५ विशेषांक
विवेचना संकलन	: प्रथम खण्ड, संयोजक उमाराव, प्रथम संस्करण, भारती भण्डार, इलाहाबाद
राष्ट्रवाणी	: मुक्तिबोध विशेषांक, जनवरी-फरवरी, १९६५
साप्ताहिक हिंदुस्तान	: २८ सितम्बर, १९६६

### हिंदी कोश :

स. कालिका प्रसाद	: वृहत् हिंदी कोश, ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी, तृतीय संस्करण
स. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	: हिंदी साहित्य कोश, भाग-१ (परिभाषिक शब्दावली) ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण
	हिंदी साहित्य कोश भाग-२ (नामवाची शब्दावली), ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण
सं. डॉ० नगेन्द्र	: मानविकी परिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड) राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, १९६५
डॉ० हरदेव बाहरी	: वृहत् अंग्रेजी हिंदी कोश भाग-१,२ ज्ञान मण्डल लि० वाराणसी, १९६६ ई०

### LIST OF ENGLISH BOOKS

1. Biographia Literaria, S.T. Coleridge, London, J.M. and Sons Ltd. 1949.
2. Lenin and Problems of literature, progress publication, Mascow, 1974.
3. Lukache : The meaning of contemporary realism Marline Press Ltd. 196.
4. Romanticism Imagination, E.J. Furlong, George, Allen and Unein, New York, 1961.
5. Principles of Literary criticism, I.A. Richards, Rontledge and Kegan Paul Ltd. 1952.
6. Romanticism Seclleer, Ernest, New York, 1929.

**DICTIONARIES AND ENCYCLOPAEDIA:**

1. Chamber's Twentieth Century Ed. Wilean Geddie. Allied Publishers, Bombay. Revised Edition.
2. Dictionary of World Literary Terms Ed. T. Shipley, George Allen and Unwia Ltd. Ruskin House, Museum Street Great Britain, First Ed.
3. The Macmillan Everyman's Encyclopaedia, fourth ed., The Macmillan Co., New York, 1959.
4. The Reader's Encyclopaedia (An encyclopaedia of World Literature and the Arts) Ed. William Rose Benet Thomas Crowell Co. New York, Third Ed. 1951.